जैन साहित्य में विकार

लेखक
पं. बेचर दास जैन (मूर्ति पूजक श्वेताम्बर)

अनुवादक
तिलक विजय जी

प्रेरणा
पं. खुशाल चन्द जी गोरावाला
बनारस

सहयोग
फूल चन्द जी लुहाडिया
खातेगाव (इन्दौर)

प्रकाशक
दिगम्बर जैन युवक संघ
ललितपुर, केन्द्रीय कार्यालय

मूल्य : 20.00 रु०

मुद्रक :

गजेन्द्र पब्लिकेशन

2578, गली पीपल वाली, धर्मपुरा,

दिल्ली - 110006

समर्पण

परम पूज्य जंगम तीर्थस्वरूप श्रीमद्विजयानन्द सूरीश्वर (आत्मारामजी) महाराज ! आपकी ग्रन्थरचना देखने से मुझे प्रतीत हुई है कि आप एक उद्धारक पुरुष थे।

यदि आप इस वर्तमानकालमें विद्यमान होते तो अवश्य ही इस गरम हुए लोहेका घाट घड़े बिना न रहते। आप भावाचार्य है, थे और रहेंगे। मेरे लिये तो आप सर्वथा परोक्ष ही रहे हैं तथापि आपकी ग्रन्थरचना में मुग्ध होकर मै यह अपने विचारों की माला आपके करकमलों में समर्पित करता हूँ।

चरण सेवक बेचर।

निवेदन

जिन सज्जनों के सामाजिक परिस्थिति का परिज्ञान है वे समझ सकते हैं कि आज जैन समाज के धर्मगुरुओं की जो हुक्मी के साम्राज्य में उनके माने हुए रूढ़ी धर्म के विपरीत और आजकल के धर्म से सम्बन्ध रखने वाले सत्यइतिहास को समाज के सामने रखना कितना खतरनाक और उत्तर दायित्वपूर्ण है। जैनसमाज व्यापारी होने के कारण अपने धार्मिक साहित्य एवं उसके इतिहास सर्वथा अनभिज्ञ है और इस विषय की उसे जिज्ञासा भी पैदा नहीं होती। वह अपने धर्मगुरुओं की वाणी ही सर्वज्ञ की वाणी मानकर उनकी बतलाई हुई रूढ़ क्रियाओं के करने में ही स्वर्ग प्राप्ति के स्वप्न देख रहा है। धर्मगुरु समाज की इस अज्ञानता का मनमाना लाभ उठा रहे हैं। उनमें से इनेगिने व्यक्तियों को छोड़कर धार्मिक इतिहास की शोध करना तो दूर रहा वे स्वय अपने पूज्यदेव महावीर की वास्तविक जीवन घटनाओं से भी अपरिचित हैं। ऐसी दशा में बन्धनों मे जकडी हुई जैन जनता अपने सच्चे इतिहास और सूत्रों के परिज्ञान से वंचित रहे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि हमारा धर्मइच्छुक अबोध समाज जो बहुत सी अशास्त्रीय रूढियो को धर्म समझ कर मात्र आधुनिक धर्मगुरुओं के इशारे पर ही अन्धकार में दौड रहा है उसमें विचारक और जिज्ञासु मनुष्यों के लिये यह ग्रन्थ अवश्य ही दीपक का कार्य करेगा।

जिन २ विषयों का इस ग्रन्थ में सप्रमाण, प्रतिपादन किया गया है उन विषयों के सम्बन्ध में जैन दर्शन को मानने वाले मुख्य दोनों सम्प्रदाय की ओर से आजतक ऐसा एक भी उल्लेख प्रगट नहीं हुआ जो श्वेताम्बर-दिगम्बरवाद, मूर्तिवाद, देवद्रव्य वाद और आगम वाचनवाद की जड़ को ढूँढ निकाले और गवेषणा पूर्वक सप्रमाण इन विषयों पर प्रकाश डाले। लेखक महाशयने इस निबन्ध को लिखकर इस जबरदस्त त्रुटिको पूर्ण किया है इतना ही नहीं बल्कि विचारक जैनसमाज पर महान उपकार भी किया है।

यह ग्रन्थ आज से लगभग दसवर्ष पूर्व प्रसिद्ध लेखक प० बेचरदास जी की प्रोढलेखनी द्वारा गुर्जर गिरा से लिखा गया है। कई इष्टमित्रों की प्रेरणा से मैंने इसे हिन्दी भाषा भाषी जैनजनता के लिये अनुवादित किया है। आशा है विचारक जैन समाज इन बातों पर विचार करके अवश्य लाभ उठावेगा।

अक्षयतृतीया देहली—

विनीत तिलकविजय।

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक के मूललेखक श्री पं. बेचरदास जी जीवराज श्वेताम्बर जैन समाज के गणयमान्य उदार हृदय विद्वानों में से एक हैं। आप प्राकृत, व्याकरणादि अनेक ग्रन्थों के लेखक, अनुवादक, सम्पादक तथा संस्कृत, प्राकृत, पाली, गुजराती बंगला आदि कई भाषाओं के विद्वान हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता से कोसों दूर रहते हैं। अभी आप युवक हैं, किन्तु अध्ययन विशाल, भाषा प्रौढ़ और संयत है। अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी हैं जो भी लिखते हैं पूरे अधिकार के साथ, जँचें तुले नपे हुये शब्दों में। यही कारण कि आप विश्ववन्द्य महात्मागान्धी के गुजरात पुरातत्व-मन्दिर में एक ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित हैं और वर्तमान असहयोग आन्दोलन में महात्माजी के कृष्णमन्दिर में जा बैठने पर उनके "नवजीवन" जैसे जिम्मेदार पत्रके सम्पादक होने का गौरव प्राप्त कर चुके हैं।

पुस्तक पढ़ने से मालूम होता है कि विद्वान लेखक के हृदय में समाज की दयनीय दुरावस्था के लिये एक टीस है जो उन्हें बेचैन किये रहती है, उनकी आँखों में किसी गुप्त वेदना के आँसू हैं जो छुपाने पर भी छलक पडते हैं। वास्तव में जिनके पास हृदय हैं वे ससारन को दु:खी देखकर रोते हैं- तडपते हैं, वे उस सुखी करने के लिये अनेक विघन बाधाओं में गुजरते हुये मिट जाते हैं, ससार उन्हें जाने या न जाने वे ससार को जान जाते है।

आज से दस बारह वर्ष पूर्व विद्वान लेखक के बम्बई की मागरोल जैन सभा में पुस्तक में वर्णित विषय पर एक सार गर्भित व्याख्यान दिया था। आपने कहा था कोई भी धर्म, कलह को पोषित नहीं करता, प्रजा के विकाश की रुकावट नहीं करता और प्रजा के विकाशकारक व्यवहारिक नियमों में हस्तक्षेप नहीं करता तथापि वर्तमान युग के धर्मी धर्म को समाने रखकर मानों स्वय ही धर्मरक्षक न हों, ऐसा समझ कर धर्म के नाम से कलह करते है, प्रजाबल को क्षीण करते हैं, युवकों के विकाश को रोकते हैं और जागृत होती हुई प्रजा को धर्म को हाऊ से डराकर उसे सुला देने को प्रयत्न कर रहे हैं। ... रक्षा करने वाली बाड़ ही खेत खा रही हैं। धारण किये जाने वाला धर्म ही उसके आश्रितों को नीचे कर रहा है और माता-पिता के समान धर्मगुरुओं को अपनी सन्तान की वेदना-पूर्ण कराहना की ओर दृष्टिगत करने तक का अवकाश नहीं मिलता। वे अनेक यातनायें सहते हुये जीतेजागते जैनियों की शोचनीय दशापर दुर्लक्षकर अपने बंशवृद्धि की चिन्ता में लीन हैं, ...

व्याख्यान सुनकर कार्यरूप में परिणित करने की अपेक्षा धर्म के ठेकेदार उपाधिलोलुप महामुनियों ने कुछ विचारशुन्य श्रीमन्तों को सहारा लेकर आपको श्रीसंघ से पृथक करा दिया। इस आपत्ति के तीव्र थपेड़े से पण्डित जी तनिक भी विचलित नहीं हुये, वे पर्वत के समान अपने विचारों पर दृढ़ बने रहे। क्योंकि वे जानते थे कि "सर्वथासत्य, प्रकटसत्य, शुद्धसत्य एक ऐसा भारी रसायन है जिसे मनुष्य मात्र झेल नहीं सकता।" जिस प्रकार शेरनी का दूध कंचन के सिवा अन्य किसी पात्र में नहीं ठहर सकता वैसे यही शुद्ध सत्य भास्कर के तेजस्वी प्रकाश को साधारण मानव, जिनके नेत्र अन्यविश्वासरूप पीलिये रोग से विकार युक्त हो गये हैं नहीं झेल सकते।

अपने पुनः एक बार अपने दिये हुये व्याख्यान को परीक्षा की, कसौटी पर कसा, अत्यन्त परिश्रम पूर्वक इस विषय का अध्यन किया। उत्तरोत्तर विचारों की पंष्टि होती गई और जो भी जैनग्रन्थ-रत्नाकर में गहरे उतरकर अपने खोज की वह पुस्तक रूप में पाठकों के सामने रख दी। साहसी विद्वान ने जिस निर्भीकता के साथ जैन समाज को अन्धविश्वास, एकान्तवाद, सुप्तवाद श्वेताम्बर दिगम्बरवाद, चैत्यवाद, देवद्रव्यवाद और आगमवाद के अँधेरेकूप में से निकालने के लिये जो भगीरथ प्रयत्न किया है वह अवश्य ही सराहनीय है।

मैंने पुस्तक को आद्योप्रान्त बडे चाव से पढा है। लेखक ने समाज की वर्तमान पतितावस्था का मूलकारण जैनसाहित्य में उत्पन्न हुआ विकार माना है। वास्तव में साहित्य ही देश और समाज का जीवन होता है। इसीलिये वह अत्यन्त आदरणीय प्राणों से अधिक मूल्यवान और सब वस्तुओं में श्रेष्ठ समझा जाता है। पर दुर्भाग्यवश संसार के परिवर्तन के साथ साथ हमारे जैन-साहित्य में कुछ भी ऐसा अनर्थकारी परिवर्तन हुआ है जो हमारे लिये हितकर नहीं। इसी विकारयुक्त परिवर्तन की समालोचना करते हुये प्रस्तुत पुस्तक में श्वेताम्बर दिगम्बरवाद २ चैत्यवाद, ३ देवद्रव्यवाद, और ४ आगमवाद जैसे आवश्यकीय और महत्वपूर्ण विषयों पर विवेचन किया गया है। मालूम पडता हैं पुस्तक लिखते हुये लेखक महोदय रोये हैं। उनका युवक-हृदय समाज की सनप्त अवस्था देखकर उथल पड़ा है। उसी आवेश में श्वेताम्बर दिगम्बरवाद नामक स्तम्भ में लिखा है .-'इन शब्दो की (श्वेताम्बर दिगम्बर) प्रवृत्ति चाहे जब हुई हो, परन्तु उसका मूलकारण हमारे मुनिराज ही होने चाहिये। इन शब्दों के मूल प्रवर्तक साधु-मुनियों को वर्तमान सरकार की ओर से धन्यवाद मिलना चाहिये, कि जिसके परिणाम में वह अदालतों द्वारा दोनों समाजों

से लाखों रुपया कमा रही है।........श्वेताम्बर और दिगम्बरता की दीवार केवल आग्रह की नीवपर ही चिनी हुई हैं। .... दोनों सम्प्रदायों में जो भीषण मतभेद देख पड़ता है उसका मूलकारण दोनों सम्प्रदाय के पूर्व धर्मगुरुओं और आजकल के कुलगुरुओं का दुराग्रह, स्वाच्छन्द्य, शैथिल्य और मुमुक्षताका अभाव इत्यादि के सिवा और कुछ नहीं हो सका ·· मुझे अपने इस बदनसीब समाज की दुर्दशा का चित्र खींचते हुये बड़ा दु.ख होता है।" लेखक के कैसे हृदयग्राही शब्द हैं ?

चैत्यवाद नामक दूसरे स्तम्भ मे लिखते हैं '—हमारा समाज मूर्ति के ही नाम से विदेशी अदालतों में जाकर समाज की अतुल धन सम्पत्ति का तगार कर रहा है। ·· वीतराग सन्यासी फकीर की प्रतिमा को जैसे किसी एक बालक को गहनों से लाद दिया जाता है उसी प्रकार आभूषणों से शृगारित कर उसकी शोभा मे वृद्धि की समझता है और परमयोगी वर्द्धमान या इतर किसी वीतराग की मूर्ति को विदेशी पोशाक, जाकिट, कालर वगैरह से सुसज्जित कर उसका खिलौने जितना भी सौन्दर्य नष्ट भ्रष्ट करके अपने मानव समाज की सफलता समझ रहा है। मैं इसे धर्मदम्भ और ढोंग समझता हूँ। अपने इस समाज को ऐसी स्थिति देखकर मूर्ति पूजक के तौर पर मुझे भी बडा दु ख होता है।" चोट खाये हुये पखावज के समान लेखक के चुटीले हृदय से यह शब्द बलात् निकले है।

देवद्रव्यनामक तीसरे स्तम्भ में लिखा है -"जिसके कारण ही आज जैनसमाज की प्रशसा वकीलों बैरिष्टरों और अदालतों में गाई जा रही है और प्रतिदिन समाज क्षयरोग मे पीडित रोगी के समाज विकराल काल की तरफ खिचा जा रहा है। ··· मुझे सिर्फ इसी बात का खेद होता है कि जिन पवित्र निर्ग्रन्थों ने लोकहित की दृष्टि से जिस वाद को नियोजित किया था वही वाद आज हमें अपना ग्रास बना रहा है। अहो !! कैसा भीषण परिवर्तन !! कैसा पैशाचिक विकार !! और अनेकान्तवाद की मुद्राछापवालों का भी यह कैसा भयकर एकान्तवाद है"!!! यह लेखक की हृदतत्री की झकार जो अपने समाज की क्षुब्ध, पीड़ित एव सत्रस्त अवस्था से बिलोडित होने पर गूँज निकली है।

आगमवाद के स्तम्भ मे अनेक ग्रन्थो की समालोचना करते हुये लिखा है—"वर्तमान समय में इस प्रकार की अनेक कथाओं द्वारा उपाश्रयों में बैठकर रेशमी, खीनखाव और ज़रीके तिगड़े मे पाटकर विराजमान होकर हमारे कुलगुरु श्रोताओं को रंजित कर रहे हैं। आश्चर्य तो यह होता है कि व्यापार विद्या में अतिनिपुण वणिक समुदाय बिना विचार किये धन्यवाणी और तहत्त वचन की गर्जनायें किस तरह करता होगा ?"

चारों स्तम्भ के लेख अत्यन्त अनुसन्धान और गवेषणापूर्वक लिखे गये हैं। शुष्क और नीरस विषय होते हुये भी प्रवीण लेखक ने अपनी वशीकरण लेखनी द्वारा उसे अत्यन्त रुचिकर बनाया है। उन्होंने जैनसाहित्य की निष्पक्ष विद्वतापूर्ण समालोचना की है। सम्भव है विचारशील पाठक विद्वानलेखक की युक्तियों से पूर्णरूपेण सहमत न हों, वे कितने ही स्थानों में मत-भेद रखते हों। मतभेद बुरी चीज़ नहीं, यदि वह सभ्यता की सीमा का उलंघन न करें। विश्वास अच्छी चीज़ है किन्तु अन्धविश्वास हानिकारक है। अन्धविश्वासी विवेक शपथ मनुष्यों ने संसार में अनेक अनर्थ उपस्थित किये हैं, संसार को सुखशान्ति को नष्ट करके उसे नर्कतुल्य बना डाला है। इसीलिये जैनदर्शन अन्धविश्वास को, पक्षपात को स्थान नहीं देता १। जो भी बात हो वह परीक्षा की कसौटी पर कसी जानी चाहिये २ रूढ़िभक्त, अन्ध विश्वासी अथवा लकीर का फकीर बने रहने वाले समाज की इस वैज्ञानिक युग में मिट्टी खराब है। जैन धर्म परीक्षा प्रधानी धर्म हैं, उसके अनुयायी अन्धविश्वासी अथवा पक्षपाती बने रहें, यह शोभा नहीं देता। अन्धविश्वासी समाज नास्तिकता, कायरता, परतन्त्रता आदि के बन्धन में जकड जाता है ३ अत· समाज की वर्तमान दुरावस्था का सुधार करने के लिये जैन साहित्य में उत्पन्न हुये विकार को अनेकान्तवाद की पवित्र सरिता में धोने के लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये। व्यवहार कुशल व्यापारनिपुण जैनसमाज को भविष्य मे आने वाली आपत्तियों के प्रतिकार का अभी से उपाय कर लेना चाहिये। प्रतिवर्ष लाखों रुपया धार्म्रिक मुकदमेबाज़ी में व्यय करने वाली मन्दिरों की दीवारों पर मनो सोना लिपवाने वाली, लाखों रुपया रथयात्रा में बहानेवाली और असंख्यधन मुनिवंशियों के लिये लुटा देने वाली जैनसमाज "इकबाल" के इस शेरको विचार पूर्वक पढे और समझे।

अगर अब भी न समझोगे तो मिल जाओगे वुनिया से।
तुम्हारी दास्तां तक भी न होगी दास्तानों में।।

हिन्दी भाषा भाषियों का ऐसा अनुपम पुस्तक पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त होगा, इसके लिये अनुवादक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं।

पहाड़ी-धीरज, दिल्ली।
ज्येष्ठ कृष्णा ५ वी० नि० सं० २४५८

अयोध्याप्रसाद गोयलीय "दास"

१. पक्षपाती न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिपु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्यकार्ये. परिग्रहः।।

—श्री हरिभद्र सूरि

२. आग्रहीवत ! निनीपति युक्ति यत्रंतत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्रतत्र मतिरेति निवेशम्।।

३. निबल, निरुद्यम् निर्धनी, नास्तिक निपट निराश।
जड, कादर कर देतु है, नरहिं अन्धविश्वास।।

वियोगी हरि

अर्थात्—खेद है कि हठग्राही मनुष्य युक्ति को खींचखीच कर वहाँ लाता है जहाँ पहिले से उसकी मति ठहरी हुई होती है। परन्तु एक पक्षपात रहित मनुष्य की ऐसी नीति नहीं होती वह अपनी मति को वहाँ ठहराता है जहाँतक युक्ति पहुँचती है अर्थात् उसकी मति आप युक्तिअनुमान होती है।

जैन साहित्य में विकार

वस्तु की मूल स्थिति को समझे बिना उसकी बिकार वाली स्थिति को समझना या समझाना कोई सुगम बात नहीं है। जिसे अपनी पूर्व स्थिति की ताजी स्मृति हो वही मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति में हुये परिवर्तन को समझ सकता है। शरीरिक विकार को समझने के लिये प्रथम पूर्ण निरोग स्थिति का अभ्यास करने की अवाश्यकता होती है। वैरूप्य की विभीषिका में से उत्तीर्ण होने के लिये सौन्दर्य के सागर का विशेष अवगाहन करना पडता है, एवं साहित्य की विरूप स्थिति को समझने से पहिले उसकी बिशुद्ध स्थिति को भी समझना आवश्यक है।

साहित्य कोई हमारे समान बोलने चलने वाला या जीता जागता प्राणी नहीं है इस कारण हम उसकी विशुद्धता या विकृतता का निर्णय उसके पूर्व कर्मपर नहीं छोड सकते। साहित्य अन्य पदार्थों के समान उत्पाद्य पदार्थ है इस लिये उसकी शुद्धि या विकृति का जवाबदार उसका उत्पादक ही हो सकता है। जिस तरह पुत्रके गुण दोषों का जवाबदार उसका पिता कहलाता है, और वृक्षका भला या बुरा भविष्य उसके बीजमे छिपकर रहता है वैसे ही साहित्य की विशुद्धता या विकृतता का विशेष आधार उसके रचयिता की स्थिति पर ही अवलम्बित है।

भाषामे साहित्य शब्द दो तीन अर्थको सूचित करता है। साहित्य शब्द से उपकरण या साधन लिये जाते हैं। साहित्य का अर्थ रस शास्त्र-काव्यप्राकश, काव्यानुशासन, साहित्यदर्पण वगैरह होता है और किसी भी प्रकार के शास्त्र यथा बौद्ध साहित्य, वैदिक साहित्य या सांख्य साहित्यादि भी उसके अर्थ होते है। इस प्रस्तुत चर्चा मेअन्तिम अर्थ को विशेष स्थान मिल सकता है। साहित्य बिचारात्मक और शब्दात्मक एव दो रूप मे होता है। जब तक हृदयगत हो, प्रगट न किया गया हो। तब तक वह विचारात्मक साहित्य कहलाता है और जब वह मुखद्वारा शब्दो के तरह-तरह के वस्त्रो में एवं कल्पना, अतिशय या उत्प्रेक्षा वगैरह के अलंकारों में सुसज्ज होकर गगनमडल में प्रगट हो तब वह शब्दात्मक साहित्य कहलाता है और यही शब्दात्मक साहित्य जब कागजों पर लिपि बद्ध किया जाता है, तब इसे

शास्त्र के नाम से पहचानतेहै। मैं यहां पर आपको जो विचार या विशुद्धि बतलाऊंगा, उसका विशेष सम्बन्ध ऐसे ही लिपिबद्ध जैन साहित्य-शास्त्रों के साथ है।

जैन शास्त्र की पूर्ण उत्तर दायिता उसके मूल जनक, ग्रन्थक, या संकलित करने वाले पर अवस्थित है। जैन साहित्य के मूल जनक तीर्थङकर, ग्रन्थक, गणधर, लेखक अर्थात् प्रथमतया बहीखाते पर चढ़ाने वाले-पुस्तक-कार रूप देने वाले श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणादि पूर्वाचार्य माने जाते है। इस विषय को पूर्णतया समझने के लिये हमें इन तीनों महापुरूषों का इतिहास, उनके समय की परिस्थिति और उनकी जीवन दशा पर विचार करने की अवश्यकता है। साम्प्रदायिक ममत्वमयी दृष्टि से कदाचित् जैन शास्त्र अनादि सिद्ध माने जाते हों या अकृत्रिम व अपरिवर्तित रहते हों तो इससे हमें कोई आपत्ति नहीं। यह बात ऐतिहासिक हो या उसमे साम्प्रदायिकता-अन्य सत्यासत्य का तत्व मिला हुआ हो इसके साथ हमारा कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। तथापि जहा तक मैं जानता हूं शास्त्रो की शाश्वतता सिद्ध करने वाला©— सम्प्रदाय भी इतनी बात स्वीकृत करने की हिम्मत करता है कि जिस जिस तीर्थङकर के समय उनके विचार शब्दबद्ध होते है उसवक्त उसमें पूर्वकाल की स्थिति और नामों की जगह वर्तमान काल की स्थिति और नामों को नियुक्त किया जाता है।

©सम्प्रदाय की तो ऐसी भी इच्छा हो सकती है कि हमारे ही शास्त्र सब से अनादि हैं याने हमारी दुकान और हमारा बहीखाता पृथ्वी के साथ ही निर्माण हुआ है। परन्तु वर्धमान के नाम पर प्रचलित प्रवचन में जगह जगह उनके समय की परिस्थिति, उनका पचयामी आचार, उनके समय के मनुष्यों के उल्लेख और उन्होंकी स्वाध्याय चर्चा, उनके सम समयी जमाली, गोशालक, हस्ती तापस और बुद्धदेव जैसे प्रखर वादियों के खण्डन मण्डनात्मक सवाद, तथा स्कन्दक, सुधर्मा, जम्बू, गौतम श्रेणिक, चेल्लणा, कोणिक, धारणी, सिद्धार्थ, त्रिशला, जयन्ती, मृगांवती, सुदर्शन, उदायी, आनन्द, कामदेव, और चूलणी पिता वगैरह वर्धमान के सम समयी अस्तित्व रखने वाले पुरूषों के नाम निर्देश मिलने से सम्प्रदाय को या उसके सचालकों को अपनी अनादिता के बचाव के लिये ही उपर्युक्त उपाय लेना पड़ा है और उसका उल्लेख सूत्रकृतांग सूत्रकी टीकामें शीलांक सूरिने और व्याख्या प्रज्ञप्तिकी टीकामें अभयदेव सूरिने किया भी है-

देखो सूत्र० पृ० ३८९ और भगवती पृ० १६५ अजीमगजवाला। यदि इस सम्बन्ध में इतिहास को पूछा जाय तो वह स्पष्टतया और सप्रमाण बतला सकता है कि जैसा वात्स्यायन सूत्र अनादि हो सकता है वैसे ही यह प्रवचन भी अनादि का सम्भवित हो सकता है।

इस दृष्टि से शास्त्र पौरूषेय हैं, परिवर्तित हैं और अनित्य हैं। इस मान्यता की नींव पर साहित्य विकार के साथ सम्बन्ध रखने वाला मेरा प्रस्तुत प्रश्न युक्त गिना जाय तो इसमें जरा भी अनुचित न होगा। इस प्रश्न को विस्तार पूर्वक समझाने के लिये वर्तमान शासन के नायक श्रीवर्धमान का इतिहास उनकी जीवन दशा और उनके समय का वातावरण इत्यादि के उल्लेखकों में सबसे पहले स्थान देना उचित समझता हूं। जिस समाज को मैं प्रकृत विषय का परिज्ञान कराना चाहता हूं। वह समाज भगवान वर्धमान के नाम से, गुण से, रूप से, और उनके स्थल जीवन से सुपरिचित है। उसकी श्रीवर्धमान के प्रति इतनी अटूट भक्ति है कि प्रतिवर्ष समाज के बालक तक भी अपने पूज्य पुरूष के जीवन को एक दफा सुनने में आलस्य नहीं करते। उसको नाम के लिये लाखों रूपयों का होम किया जाता है, उसकी स्थापना-मूर्ति के वास्ते करोड़ों रूपयों का व्यय किया गया है और वह खर्च वर्तमान समय में भी प्रचलित ही है। ऐसे श्रीवर्धमान भगवान का जैन समाज को परिचय देना यह माता के पास मौसाल की प्रशंसा करने जैसी पुनरूक्ति मात्र है। यद्यपि जैन समाज श्रीवर्धमान के साथ इतना गाढ़ परिचय रखता है, तथापि मैं हिम्मत पूर्वक इतना कह सकता हू कि वर्तमान श्रद्धालु वर्ग उस महा पुरूष के अन्तर्गत जीवन से या वास्तविक जीवन से बहुत कम परिचय रखता है। ऐसा होने से ही श्री वर्धमान की मूर्ति के लिये अतुल धन खर्च ने वाले श्रीमन्त या उपदेशकमुनि उनके यथास्थित जीवन पथ पर गमन करने या कराने के लिये इस युगमें भी अशक्त ही रहे हैं। जिन्हें प्रथम से ही पुरानी दन्त कथाए, मिश्र कथाएं या बड़ी बड़ी बड़ाई की बनावटी बातें सुनने की आदत पड गई है और जिनके बुजुर्गों की तरफ से भी उसी आदत को पुष्टि मिलती जा रही है वे किसी भी ऐतिहासिक सत्य-यथार्थ सत्य की तरफ लक्ष्य करें यह एक मुश्किल सी बात है।

जैन समाज विशेषतः व्यापारी होने के कारण धार्मिक इतिहास की ओर कदाचित् ही दृष्टिपात करता है। व्यापार और निर्वाह की प्रवृत्ति की तीव्रता के लिये एवं उसमें विशेष सावधान रहने की आवश्यकता के कारण निरवकाश जैनियों को सत्य गवेषणा के लिये बहुत ही कम समय मिलता है। सत्य गवेष्णा की बात तो दूर रही परन्तु वे अपने आरोग्य के लिये अपने सगे, सम्बन्धियों के स्वास्थ्य सुधार के लिये, अपनी सन्तानों की शिक्षा के वास्ते और अपना जीवन घड़ने के लिये भी घड़ीभर विचार करने का समय नहीं निकाल सकते। इसी कारण उनके राष्ट्रीय जीवन का भी विकाश नहीं हुआ मालूम होता। इससे उनके धार्मिक जीवन या व्यवहारिक जीवन के नियमों का आधार जैन समाज के धर्मोपदेशकों-साधु मुनियों की देशना पर

जिन्हें समाज अपने सर्वस्व का भोग देकर पोषित कर रहा है अवलम्बित है। यदि वे उपदेशक विशुद्ध मार्ग बतलावे तो यह समाज उस मार्ग की तरफ झुक सकता है अन्यथा नदी प्रवाह के समान गतानुगतिक से गमन कर रहा है ओर ऐसे ही करता रहेगा। यदि मेरी भूल न होती हो तो जहा तक मैंने समझा है ऐसा नि.स्वार्थी उपदेशक क्वचित ही देखने में आया है कि जो चतुर वैद्य के समान समाज की नबज देखकर उसे उस रोगके अनुसार उपदेशरूपी औषधि प्रदान करता हो। यदि ऐसी परिस्थिति में श्रीवर्धमान के यथास्थित जीवन से अपरिचित रहे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस बात का पूर्ण उत्तर दायित्व धर्मादा जीवी उपदेशकों पर ही है। यहा पर श्रीवर्धमान के यथावत् जीवन का उल्लेख करने मे हमे अन्य आवश्यक बातो को संक्षिप्त करना पड़ेगा और वह उनका जीवन इतिहास विशेष गम्भीर होने से उसका उल्लेख एक दूसरे निबन्ध मे करने का विचार किया है। श्रीवर्धमान के समय की परिस्थिति के कितने एक खास अभ्यासी विद्वानो ने उस विषय में जो विचार प्रगट किये है उन्हें मैं नीचे उद्धृत करता हूं।

"महावीर ने डिण्डिम नादसे भारतवर्ष मे मोक्षका यह सन्देश विस्तृत किया था कि धर्म सामाजिक रूढ़ी मात्र नही किन्तु वास्तविक सत्य है, मोक्ष साम्प्रदायिक बाह्य क्रिया काण्ड पालन करने से नही मिलता परन्तु सत्यधर्म के स्वरूप में आश्रय लेने से प्राप्त होता है और धर्म मे मनुष्य एव मनुष्य के बीच का भेद स्थायी नही रह सकता" - साहित्य सम्राट श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर-(महावीर जीवन विस्तार पृ० स० १२)

२५०० वर्ष पहले आर्यावर्त्त की स्थिति ऐसी थी-धर्म की यथार्य भावना का नाश हो जाने पर उसका स्थान अर्थ हीन आचार विचारो ने ग्रहण किया था। उत्तम सामाजिक और नैतिक नियम, दुष्ट जाति भेद से ब्राह्मणो के लिये विशेष अधिकार और शूद्रो के लिये घातक प्रवृत्ति से विकृत हो गये थे। इस प्रकार के जाति जन्य विशेष अधिकार से ब्राह्मणो की स्थिति प्रत्युत खराब हो गई थी। समस्त समाज के तौरपर वे इतनी हद तक लोभी और लालची, अज्ञान अभिमानी बन गये कि ब्राह्मण सूत्रकारो को भी इस वस्तु स्थिति की कडी भाषा में टीका करनी पडी थी। जिन शूद्रों ने आर्य धर्मके छत्र नीचे आश्रय लिया था, उनके लिये धार्मिक शिक्षण और व्रत क्रिया आदिका निषेध किया गया था। सामाजिक सन्मान तो उनके लिये बिल्कुल उठ गया था। जिस समाज मे वे निवास करते थे उस समाज की तरफ से परिवर्तन के लिये आतुरता पूर्वक राह देख रहे थे"-दत्त महाशय (महावीर जीवन विस्तार पृ० ९-१०)।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में यज्ञीय, और हरिकेशीय, अध्ययन उपरोक्त विषय का समर्थन करते हैं। उन अध्ययनों में ब्राह्मणों के लक्षण बतलाये गये हैं और साथ ही यह बात भी स्पष्टतया दर्शाई है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, यह कोई किसी तरह की जातियां नहीं हैं, परन्तु क्रिया जन्य उपनाम मात्र हैं- (देखो उत्तराध्ययन सूत्र का २५ वां और १२ वां अध्ययन(।

वर्धमान की जीवन दशा और उनके समय की परिस्थिति परसे हम उनका लक्ष्य या ध्येय सहज ही में समझ सकते हैं। निम्नलिखित एक ही वाक्य में उनका ध्येय समा जाता है। आचाराग्ङ सूत्र में श्रीवर्धमान के सन्देशबाही सुधर्माने श्री वर्धमान का ढिढोरा इस प्रकार सुनाया है।

"सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दक्ख पडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसि जीवियं पियं"।

अर्थात् सब जीवन आयुष्य और सुखको चाहते हैं, दुख और मृत्यु सबको अप्रिय है, हर एक प्रियजीवी हैं और जीने की वृत्ति रखते हैं, जीना सबको प्यारा लगता है (आचाराग्ङ सूत्र मोर्बी वाला पृ० स० २१(परम योगी वर्धमान स्वभाव से दयालु न थे और न ही अदयालु थे। उन्ही की दशा उदयगत प्रयोग जैसी थी। वे अत्यन्त मित भाषी- वाचंयम थे। उन्होंने अपने जीवन में यथाख्यात मार्ग को ही अवलम्बित किया था। आपद्धर्म के नाम से अपनी रक्षाके लिये उन्होने एक भी छूट न रक्खी थी। शरीर, वचन और मन ये तीनो ही उनके दास बने हुये थे। जैसे एक यत्रकार यत्र पर अपनी सत्ता चला सकता है, और इच्छानुसार कार्य लिया था। यदि शरीर के किसी भाग मे खुजली होती तो वे खुजाते तक भी न थे, शरीर पर से मैल दूर करने की वृत्ति तक भी न रखते थे, शाक्यतया आखे भी•निर्निमेष रखते और सम्पूर्ण नग्नभाव धारण करके उन्होने लोकलज्जा जीतने का उग्र प्रयत्न सेवन किया था। इस दशा मे उत्तीर्ण होने के लिये वे आरण्यक-आरण्यवासी बने और बहुत लम्बे समय तक उन्होंने कठिन से कठिन ठण्डी, ताप, भूख और तृषा आदि कठिनाईयो का सामना किया था। उन्होने दीक्षित होते ही लोक प्रवाह के अनुसरण का परित्याग किया था और अपने अनुयायियो को संदेश सुनाया था। कि णो लोगस्सेसणं चरे याने लोकैषणा-लोकवाद का अनुसरण न करना, अर्थात् दुनिया की देखा देखी गतानुगत की लकीर के फकीर न बनना (आचराग्ङ सूत्र मोर्बी वाला पृ० स० ८४)।

दीर्घ तपस्वी श्री वर्धमान और बुद्ध दोनों समसामयिक महात्मा थे, दोनों निर्वाणवादी महापुरूष थे और दोनों का एक ही लक्ष्य था। परन्तु लक्ष्य को

सिद्ध करने की दोनों की प्रवृत्ति सर्वथा जुदी जुदी थी। बुद्ध मध्यम मार्ग के उपासक ओर वर्धमान तीव्र मार्ग के हिमायती थे। बुद्ध ने अपनी मार्ग व्यवस्था में जनता के श्रेय को प्रथम स्थान दिया था, वर्धमान जनता के संस्पर्श तक का भी त्याग किया था। वर्धमान अपनी रहनी और कहनी में एक ही थे, उन्हें इस बात पर आग्रह कदापि न था कि मैं जो कहता हूं वही सत्य है और दूसरे का कथन सर्वथा मिथ्या है। वे इस बात को मानते थे कि एक ही लक्ष्य को सिद्ध करने के अनेक साधन हो सकते हैं, इससे साधन भेद में विरोध की गंध तक भी नहीं होती। उनके समय मे उनका अनुयायी वर्ग एक लक्षी था। परन्तु उन सबके मार्ग जुदे जुदे थे। कोई मुमुक्षु निराहारी रहता, कोई भोजन भी ग्रहण करता, कोई सर्वथा नग्न अवस्था सेवन करता, कोई सवस्त्र भी रहता था। कोई स्वाध्यायी था, कोई विनीत था और कोई ध्यान में ही मग्न रहता था। एव आत्मा को स्वस्थ करने के अनेक मार्ग थे, परन्तु लक्ष्य सबका एक ही आत्म स्वास्थ्य था। प्रत्येक प्राणी की शारीरिक, वाचिक और मानसिक स्थिति भिन्न भिन्न होने के कारण सब अपने २ अनुकूल और प्रकृति सात्म्य वाले मार्ग का अनुसरण करते थे। उस समय वर्तमान के जैसी किसी की एक हथ्थू सत्ता न थी कि जिससे सबको एकही प्रवाह में बहना पडे। मुमुक्षु ज्यो ज्यो विशेष योग्यता प्राप्त करते, त्यो त्यों अधिकाधिक वे उच्च साधन का अवलम्बित करते, किसी पर किसी का अमर्यादित दबाव न था। उनके अनुयायी वर्गका यह प्रघोष था कि धम्मो मगल मुक्किठ अहिंसा संजमो तवो। अर्थात् अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मंगल है (दशवैकालकि सूत्र प्रारंभ) इस प्रघोष में कही भी एक देशीयता की गंध तक नही इस पर से श्री वर्धमान की जीवन दशा, उनके समयकी परिस्थिति और उनका ध्येय हमारी समझ मे आसकता है। अब हमें उनका शास्त्र साहित्य, उसकी मूल स्थिति और वर्तमान काल में देख पड़ती विकृत स्थिति के सम्बन्ध मे विचार करना चाहिये। यहा पर इस विषय में विशेष चर्चा करने से पहले मुझे मूल स्थिति और विकृत स्थिति के सम्बन्ध में इस प्रकार खुलासा करदेना उचित होगा कि जो महापुरूष मुख्य मार्ग का प्रवर्त्तक है, उसका लक्ष्य और साधन जिसमे यथस्थित रीत्या शैली मूल स्थितिकी और जिस रचना शैली में लक्ष्य की ओर दुर्लक्ष्य करके मात्र साधनों की ही तकरारों का कोलाहल देख पड़ता हो वह विकृत स्थिति समझना चाहिये। यह निबन्ध पूर्ण होते तक मेरा यह लक्षण पाठकों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिये। अब मैं श्रीवर्धमान के समय की रचना शैली की तरफ आपका ध्यान खींचता हूं।

आज से २५ हज़ार वर्ष पहिले जब वर्धमान स्वयं विद्यमान थे तब आज के समान उपदेश प्रचार के लिये आवश्यक साधनों का अभाव था। यद्यपि लेखन कला तो उस वक्त भी अस्तित्व रखती थी, परन्तु उसका उपयोग विशेषत: व्यवहार विभाग में ही प्रचलित था। मुमुक्षु, श्रमणोपासक-श्रावकों और श्रमणों में सत्संग की प्रवृत्ति प्रचलित थी। जब वे वर्धमान के पास या अन्य किसी बड़े श्रोताकी योग्यता के अनुसार उसके हितकी दो चार बातें विधेय रूप से-(ऐसा करो ही यह नहीं परन्तु ऐसा करना चाहिये इस रीति से) प्रदर्शित करते और श्रोताजन उनहित की बातों को स्वनाम के समान याद कर लेते थे। जिन बातों में अपना विशेष हित समाया हो उन बातों को पत्तों या कागजों पर लिख लेने की अपेक्षा मंत्र के समान हृदय में अंकित कर रखना विशेष उचित है यह समझ कर भी वे उपदेश को न लिखते लिखाते हों यह बात सम्भवित है।

श्री वर्धमान के मुख्य शिष्यों ने अपने अनुयायियों को सिखलाने के लिये वर्धमान के उन उपदेशों को सक्षेप में संकलित कर रक्खा था और सो भी कण्ठाग्र ही रहता था। जब कभी प्रसंग आता तब श्री वर्धमान ने ऐसा कहा है या श्री वर्धमान के मुख से ऐसा सुना है इस रीति से उन उपदेशों का विवेचन या व्याख्यान किया जाता था। वे सब उपदेश पालीभाषा के समान उस समय की लोकभाषा-मागधी मिश्रित प्राकृत भाषा में होने के कारण समस्त जनता को समझने में सुगम और सुलभ होते थे, एव श्रावक, श्राविका, साधु या साध्वीको शक्ति में अनुसार न्यूनाधिक प्रमाण में कण्ठस्थ रहते थे। वर्तमान समय में जिसे हम एकदशांग सूत्र कहते हैं उसके वे मूल उपदेश थे। वे मूल उपदेश और वर्तमान एकादशांग सूत्र, इन दोनों में काल क्रमेण भाषा दृष्टि और अर्थ दृष्टि से कितना परिवर्तन हुआ और वैसा होने के कारणो के सम्बन्ध मे मैंने एक खास जुदा निबन्ध लिखा है। उसका कितना एक विशेष उपयोगी विभाग नीचे टिप्पण में देता हूं"

जैन दर्शन नित्यानित्यवाद का समर्थन करता है, उसकी दृष्टि से वस्तु का मूल तत्त्व कायम रहता है और उस मूल तत्त्व की परिस्थिति के अनुसार अनेक रूप परिवर्तित होते रहते है। यह परिवर्तन व्यवहारिक और उपयोगी भी है, किन्तु आकाश मूर्त्त रूप धारण करे और जड़ चेतन रूप में परिणत हो ऐसे सर्वथा मिथ्यावाद का जैन दर्शन प्रबल विरोध करता है। इसका यह कारण है कि इस सिद्धान्त में मूल पदार्थ स्वरूप से ही भ्रष्ट हो जाता है। इससे हम यह समझ सकते है कि मूल पदार्थ को कायम रखकर संयोगानुसार उसका परिवर्तन जैन दर्शन को सम्मत है, किन्तु मूल पदार्थ का स्वरूप भ्रंश तो सर्वथा असह्य और अनिष्ट है।

इससे यह बात भली भांति विदित हो सकती है कि महावीर की दूसरी शताब्दी से ही श्रुतकी छिन्न भिन्नता याने साहित्य की भाषा और भावों में न्यूनाधिक परिवर्तन प्रारंभ हुआ। हमारे दुर्भाग्य वश वह परिवर्तन प्रारंभ उतने से ही न अटका परन्तु उत्तरोत्तर विशेष वृद्धिको प्राप्त होता गया। उस

स्थितियो मे से गुजरता हुआ आज हमारे समक्ष उपस्थित हुआ है इस बात की स्पष्टी करण निम्न उल्लेख से अच्छी तरह हो जायगा।

परम श्रमण श्री महावीर का आचरण ही ऐसा है कि जो एक महोपदेशक की गरज पूरी कर सके, उनका एव उनके श्रमण शिष्यों का आचार इतना निवृति परायण था कि जिससे उनमे के किसी भी आत्मनिष्ट व्यक्ति को गुरू की ओर से प्राप्त हुये आत्मज्ञान के संक्षिप्त किन्तु गम्भीर उपदेशात्मक वाक्य समूह को लिपिवद्ध करने की जरा भी आवश्यकता न थी। इससे वे उस उपदेशात्मक वाक्य समूह को अपनी आत्म जागृति के लिये यथास्थित स्वरूप में कण्ठस्थ रखते थे। वे उपदेश बहुत ही संक्षिप्त वाक्यो में समाविष्ठ होने के कारण सूत्रो के नाम से प्रसिद्ध हुये थे। इसी कारण वर्तमान समय में उपलब्ध उन सूत्रो का विशाल विस्तार भी सूत्रो के नाम से ही प्रसिद्ध हो रहा है। अर्थात् जो सूत्र शब्द उन गणधर महाशयो के समय अपनी (सूचनात् सूत्रम् वाली) यथार्थ व्युत्पत्ति को चरितार्थ करता था, वही सूत्र शब्द इस समय अपनी उस व्युत्पत्ति को एक तरफ रखकर जैन सम्प्रदाय की रूढ़ीके वश हो प्रमाण मे लाखों श्लोको की सख्या वाले ा ग्रन्थो को भी अपने भाव मे समाविष्ट करने लगा है।

कहना न पडेगा कि जब तक गणधरो के शिष्य स्थविर महाशयो ने उन संक्षिप्त सूत्रो को कण्ठस्थ रक्खा था तब तक उनकी अर्ध मागधी जरा भी परिवर्तित न होने पाई हो, परन्तु जब वे सूत्र शिष्यपरम्परा मे प्रचलित हुये हो और वह शिष्य परम्परा भिन्न भिन्न देशो मे विहार करती होगी बहुत सभव है कि उस समय जरूर उन सूत्रो की मूल भाषा अर्ध मागधी भिन्न भिन्न देशो के ससर्ग से स्मृति भ्रशके कारण और उच्चार भेद से परिवर्तन को प्राप्त हुई हो।

विशेष आगे न जाकर परम श्रमण महावीर की दूसरी शताब्दी की ही बात पर दृष्टिपात करने मे मालूम हो जाता है कि- "२ जिस वक्त आर्य स्थूलभद्र विद्यमान थे उस वक्त मगध देश मे एक ही साथ अनुक्रम से बारह वर्षीय महा भीषण दुष्काल पडा, उस समय साधुओ का सघ अपने निर्वाह के लिये समुद्र किनारे के प्रदेशो मे रहने गया थ। वहा पर साधु लोग अपने निर्वाह की पीडा के कारण कण्ठस्थ रहे हुये श्रुतका पुनरावृर्तन न कर सकते थे और इससे वह श्रुतज्ञान विस्मृत होने लगा। इस तरह अन्नके दुष्काल का असर पवित्र श्रुत पर भी पडे बिना न रहा। इसमे उन श्रुत की भी दशा एक दुर्भिक्ष पीडित के समान हो गई। भीषण दुर्भिक्ष के बाद पाटलिपुत्र-पटना मे श्रीसघ एकत्रित हुआ और उस समय जो जिसके याद था वह सब श्रुत एकत्रित कराया गया। सब मिलाकर मुश्किल से ग्यारह अग जुडे, परन्तु दृष्टिवाद नामक १२ वा अंग तो प्राय सर्वथा नष्ट हो चुका था क्योंकि उस समय आर्य भद्रबाहू अकेले ही उस दृष्टिवाद के ज्ञाता थे। (देखो-परिशिष्ट पर्व अष्ठमसर्ग श्लो० १९३ तथा नवम सर्ग श्लो० ५५-५८)

दुर्भिक्ष के बाद लगभग तीनसौ चारसौ वर्ष पीछे-वीर निर्वाण से पांचवीं छठी शताब्दी में आर्य श्री स्कंदिल और वज्रस्वामी की निकटता के समय वैसा ही एक भीषण दुर्भिक्ष इस देश को पार करना पड़ा था। इस विषय का वर्णन करते हुये नदी चूर्णी लि० पृ० सं० ४ से उल्लेख किया गया है कि बारह वर्षीय भयकर दुर्भिक्ष पडने पर अन्नके लिये साधु जुदे जुदे स्थान में विचरते थे, इससे श्रुतका ग्रहण, गुणन और चिन्तन न कर सके, इस कारण वह श्रुत नष्ट भ्रष्ट हो गय।। जब पुन· सुभिक्ष हुआ तब मथुरा में श्री स्कंदिलाचार्य प्रमुख संघ ने साधु समुदाय को एकत्रित करके जो जिसे स्मरण रहा था वह सब कालिक १ श्रुत सगठित किया।" इस पूर्वोक्त दुर्भिक्ष ने पहले दुर्भिक्ष से बचे हुये श्रुतको विशेष हानि पहुचाई। यह उद्धार सूरसेन देश २ के पाट नगर मथुरा में होने के कारण श्रुतमें सौरसेनी भाषा का विशेष सम्मिश्रण हुआ और उसमें जुदे जुदे अनेक पाठान्तर ३ भी वृद्धि को प्राप्त हुये।

यह बात हमें दु:ख के साथ लिखनी पड़ती है कि वह विषम खेदका प्रसंग बीतने के बात भी प्रकृति देवी की क्रूरता से देश पर फिर से वीर निर्वाण दसवीं शताब्दी में दुर्भिक्ष के बादलों की घनघटा छा गई। इस समय बहुत से विशेषज्ञ स्थविरो का अवसान हो गया और जो कुछ जीर्ण शीर्ण श्रुत बचा था वह भी विशेष रूप में छिन्न भिन्न हो गया। इससे उस समय के अंग साहित्य की स्थिति के साथ श्री वीर समय के अग साहित्य की तुलना करने वाले को दो सौतेले भाईयों के बीच जितना अन्तर होता है उतना भेद मालूम होना सर्वथा संघठित कल्प है।

१ देखो-कालिक श्रुत के लिये नंदीसूत्र।

२. देखो-प्रज्ञापना, आर्य देश विचार।

३ विशेष पाठ भेदों से उलझन मे पडे हुये श्रीअभयदेव सूरिजी लिखते हैं कि- "अज्ञा वय शास्त्रमिद गभीर–प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि।"

"प्रश्न व्याकरण वृत्ति प्रारम्भे किमपि स्फुटीकृतमिह स्फुटेऽप्यर्थत सकष्टमतिदेशतो विविधवाचनातोऽपि यत्"

(ज्ञाता धर्मकथा वृत्ति प्रान्ते)

इस विषम समयकी परिस्थिति दिखलाते हुये कहा गया है कि- "श्रीदेवर्धिगणी क्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीयदुर्भिक्ष वशाद् बहुतर साधुव्यापत्तौ बहुश्रुत विच्छित्तौ च जाताया × × × भविष्यद् भव्यलोकोपकाराय श्रुतभक्तये च श्रीसघाग्रहाद् मृतावशिष्टतदाकालीनसर्वसाधून् वलभ्यामा कार्य तन् मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या

जैन दर्शन का यह सिद्धान्त तत्वावाद एवं आचारवाद में सर्व व्यापी होने के कारण अपना अपरनाम, अनेकान्त दर्शन, भी धारण करता है। उसका यह सिद्धान्त प्रकृति के नियमानुसार है। प्रकृति की ऐसी रचना है कि सयोग वश वज्र जैसा सघन या कठिन और गुरूतम पदार्थ भी नरम प्रवाही जैसा हो जाय और नरम प्रवाही पदार्थ वज्रके समान घन एवं कठोर बन जाता है। यह बात व्यवहारिक है, अनुभव प्रतीत है और प्रयोगशाला देखने वाले को प्रत्यक्ष सिद्ध है, तब फिर श्री वर्धमान के समय के उपदेश, आचार, विचार, या तत्ववाद परिवर्तित हों तो इसमें कोई नवीनता नहीं। वर्तमान समय मे श्री वर्धमान के जैसे शरीर, वृत्तिया, वस्त्र, घर, वैभव या मनुष्य इत्यादि में कुछ भी एक रूप से स्थिर न रहा एव परम्परागत एकाकार में आज कुछ भी उपस्थित नहीं देख पडता, इतना ही नहीं बल्कि उसमें इतना भारी परिवर्तन हो गया है कि श्री वर्धमान के समय का कोई क्षत्रियकुण्ड का रहने वाला आज आकर अपने गाव को देखे तो वह देखकर एकदम यह नहीं समझ सकता कि यही वह क्षत्रियकुंड है जिसमें कि वह निवास करता था। रातदिन के समान यह परिवर्तन क्रम जितना अनिवार्य है उतना ही उपयोगी भी है। यदि यह परिवर्तन की प्रथा न होती तो स्वभावत· नित्य नई रूचि वाले मनुष्यों को इस संसार मे जीवन बिताना मुश्किल हो जाता।

यहा पर पाठक मुझसे यह प्रश्न कर सकते है कि यदि यह परिवर्तन क्रम वस्तुमात्र के साथ समान रूप से सम्बन्ध रखता है तो जैन साहित्य को भी लागू पडे इसमें उसका विकार ही क्या? और उस विकार से हानि ही क्या?

मुझे नम्रता पूर्वक कहना चाहिये कि परिवर्तन के दो प्रकार हैं, एक परिवर्तन विकाश गिना जाता है और दूसरा विकार कहलाता है। एक मनुष्य नियमित रूपसे निरन्तर पथ्य आहार ग्रहण करता हो उसका जठर उस

संकलय्य पुस्तकारूढ़ा कृता। ततो मूलो गणधर भापितानामपि तत्सकलानानन्तर सर्वेषामपि आगमाना कर्ता श्रीदेवर्धिगणिक्षमाश्रमण एव जात

(समय सुन्दर गणी रचित सामाचारी शतके)

अर्थात् श्री देवर्षिगणी क्षमाश्रमने वारह वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण बहुत से साधओं और अनेक बहुश्रुत स्थविरों के विच्छेद हो जाने पर श्रुतकी भक्ति से प्रेरित हो भावी प्रजाके उपकारार्थ श्री वीर निर्वाण से ९८० में बर्षमें श्री सघके आग्रह से उस समय मे बचे हुये साधु समुदाय को वलभीपुर में एकत्रित कर उनके मुखसें अवशेष रहे हुये न्यूनाधिक त्रटित और अत्रुटित आगम के पाठ अपनी बुद्धिसे अनुक्रमतया सकलित कर पुस्तकारूढ किये। इस तरह प्रारभमें गणधरों द्वारा रचित होने पर भी सूत्र देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमणसे पुन· सकलित होने के कारण वर्तमान कालीन समस्त आगमों के कर्ता श्रीदेवार्धिगणी क्षमाश्रमण ही कहे जाते है।''

आहारको पचा कर उसमें के सार हिस्सेको खून रूप में, शुक्र रूप में, या पित्तादि रूपमें परिणमित करता हो और उसके द्वारा उस मनुष्य के अवयव पुष्ट होते रहने के कारण उसके मुख पर लालिमा आ जाने से उस परिवर्तन का नाम शरीरिक विकाश कहलाता है, और अनियमित अपथ्य आहार लेनेवाले मनुष्य के शरीर में जो फीकापन आता है, शरीर फूल जाता है वा शरीर पर जो सूजन आ जाती है, उस परिवर्तन का नाम शरीरिक विकार है। ये विकाश और विकार परिवर्तन की दृष्टि से तो दोनों समान ही हैं, परन्तु उनमें से एक हमें विशेष इष्ट और दूसरा सर्वथा अनिष्ट है। इसी प्रकार जिस साहित्य की रचना शैली मे परिस्थिति के अनुसार फेरफार किया जाता हो या अपूर्ण रचनाशैली को समय और संयोगानुसार न्यूनाधिक करके पुष्ट बनाई जाती हो वह परिवर्तित साहित्य विकाश की कोटि में गिना जाता है, परन्तु जिस रचनाशैली को स्वच्छन्द, दुराग्रह, गृद्धता या लोकैषणा वगैरह अपथ्य के संसर्ग से फीकी की गई हो, शोफित की गई हो और जो ढोल के समान फुलादी गई हो उस परिवर्तन को यथार्थ रूप से साहित्य विकार की संज्ञा घटती है। इन दो परविर्तनों मे प्रथम का परिवर्तन हमें हितकर और कल्याण कर है, परन्तु दूसरा अहितकार और अमंगलप्रद है।

यदि कोई भी देश, समाज या धर्म प्रगति को पाप्त हुआ हो तो उसमे प्रथम परिवर्तन ही कारण रूप है और कोई देश, समाज या धर्म यदि अधः पात-अवनति को प्राप्त हुआ हो तो उसमे दूसरा परिवर्तन ही मुख्य कारण है। वर्तमान भारत, उसकी प्रजा और उसका धर्म जिस अपदशा का अनुभव कर रहा है उसका समस्त श्रेय दूसरे परिवर्तन पर ही अवलम्बित है। कोई भी धर्म कलह को पोशित नही करता, प्रजाके विकाश की रूकावट नहीं करता और प्रजाके विकाश कारक व्यवहारिक नियमो में हस्तक्षेप नही करता, तथापि वर्तमान युगके धर्मो धर्मको सामने रख कर मानो स्वय ही धर्म के रक्षक न हों ऐसा समझ कर धर्म के नाम से कलह करते हैं, प्रजा बल को क्षीण करते हैं, युवको के विकाश को रोकते हैं और जागृत होती प्रजा को धर्म के हाऊसे डराकर सुला देने का प्रयत्र कर रहे हैं। इन सब बातो का मूल कारण दूसरा परिवर्तन ही तो है।

उपरोक्त परिस्थिति से यह स्पष्ट मालूम हो सकता है कि गणधरों के रचे हुये सूत्रो या अगो पर कैसे कैसे युग बीते हैं। जिस साहित्य पर कुदरत की ओर से ही ऐसा भीषण प्रकोप हो वह साहित्य परपरागत एक सरीखा ही चला आवे यह बात किसी भी विचारक की बुद्धि मे यथार्थ नहीं जच सकती। किन्तु जो अग साहित्य इस समय विद्यमान है वह दुष्कालों के भीषण प्रहारों के कारण काल रूढ़ी, स्पर्द्धा और स्वाच्छद्य के असह्य जखमो से जखमित स्थिति में हमारे सामने अस्तित्व धारण करता है।

पाठक समझ सके होगे कि देश कालानुसार परिवर्तन जितना उपयोगी होता है, विपरीत परिवर्तन उतना ही भयंकर होता है। मेरी समझ के अनुसार जैन साहित्य मे इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार के परिवर्तन हुये हैं। उनमे से इष्ट परिवर्तनों को आदर की दृष्टि से देखना चाहिये और अनिष्ट परिवर्तनो को दूर करना उचित है। मेरा यहां पर चर्चा का मुख्य विषय यह है कि वह अनिष्ट परिवर्तन क्यो हुये? किसने किये? और उनका व्यौरा क्या है?

सर्वथा सत्य- प्रगट सत्य, शुद्ध सत्य एक ऐसा भारी रसायन है कि जिसे मनुष्य मात्र झेल नही सकता। जिस तरह विशेष प्रकाश विशाल नेत्रवाले की भी आंखो को चुंधिया देकर उसकी दर्शन शक्ति का निरोध करता है वैसेही केवल शुद्ध सत्य का उपदेश लौकिकसाधारण मनुष्य को उलझन मे डाल देता है। शुद्ध सत्य की दृष्टि मे पुन्य पाप के तड टिक नही सकते। शुद्ध सत्य की दृष्टि में सारासार नही टिक सकता और शुद्ध सत्यके सामने जाति अजातिकी भावनाको अवकाश नही मिलता। यदि उसके सामने कोई टिक *सकता है तो मात्र एक आत्म स्वास्थ्य-सिद्ध वेद्य स्वास्थ्य ही समर्थ है।* यद्यपि निखालस सत्य पिशाचके समान डरावना लगता है तथापि परम शान्ति उसी मे समाई हुई है। विकाश की पराकाष्टा पर पहुचने वाले मनुष्य मात्रको यदा कदापि उसकी ही गोद टटोलनी पडेगी यह बात अनिर्वचनीय और अगेय होने के कारण किसी से निखालस रीत्या नही कही गई परन्तु ढूँढा इसे सबने है। वर्तमान समय मे इसे कोई कथन नही कर सकता और न ही भविष्य मे भी यह कथन किया जायेगा। मनुष्य जन्म से ही कृत्रिम सत्यो का ससर्गी है अत उसके समक्ष निखालस सत्यका सीधा उपदेश किस तरह किया जाय? इसी एक कारणवशात् मनुष्य की अवनति की आशकासे अनन्त कालमे वह ठोस सत्य छिप हुआ रहा है। और आगे भी वह हमेशा के लिये छिपा रहेगा। परन्तु वही सबका ध्येय और अन्तिम लक्ष्य होने से हर एक मनुष्य ज्ञाताज्ञात तया उसी की उपासना कर रहा है। जिस तरह सासारिक यवहार मे निपुणता प्राप्त करने के लिये प्रारम्भ मे कृत्रिम साधनो एव कृत्रिम व्यवहारो का उपयोग किया जाता है उसी तरह उस परम सत्य को प्राप्त करने के लिये भी कृत्रिम सत्य और कल्पित व्यवहारो की योजना की गई है। इन कल्पित सत्य या सभ्य सत्यों और कल्पित व्यवहारो को मैं इष्ट परिवर्तन की कोटि में रखता हू। इन कृत्रिम सत्यो और व्यवहारो के समय मे अनुसार, समाज के अनुसार और परिस्थिति के अनुसार अनेक परिवर्तन हो चुके है, होते रहते हैं और हुआ करेगे। परन्तु जब उन परिवर्तनो को समझने में उपदेशक या उपासक भूल करते हैं, आग्रह करने हैं, जो हुक्मी चलाते हैं और अपनी सिक्का जमाने के लिये समय, समाज, या परिस्थिति की अवगणना करने तक

नही चूकते, तभी तो उन इष्ट परिवर्तनों में अनिष्ट परिवर्तन सम्मिलित हो जाते हैं और फिर पीढ़ी दर पीढी मे होने वाले उपदेशक या उपासक उसी अनिष्ट परिवर्तन को परिपुष्ट करतेरहते हैं। शास्त्रो मे उसका सम्मिश्रण करते हैं इतना ही नहीं अपने पूज्य पुरूष के नामपर चढ़ा कर उसे वज्र लेपके समान दृढ करते हैं। जब समाज अनेकानेक वर्षो तक इन अनिष्ट परिवर्तनों का आदि बन जाता है- इनमें रूढ़ हो जाता है तव अनिष्ट परिवर्तन ही उसके धर्म, सिद्धान्त और कर्त्तव्यका रूप धारण कर लेते हैं, फिर उसके फल स्वरूप मे शान्ति की जगह क्लेश, आरोग्य की जगह बीमारी, धनाढ्यता की जगह दरिद्रता, स्वातन्त्र्य की जगह गुलामी आदि नरक से भी भयकर यातनाये सहन करनी पडती हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि वर्तमान जैन समाज प्रस्तुत परिस्थिति का अच्छी तरह अनुभव कर रहा है, तथापि ऊंची आखे उठा कर वह अपनी दुर्दशा पर दृष्टिपात नही करता? मानो पूर्वोपार्जित का प्रायश्चित ही न कर रहा हो, इस तरह मौन मुख होकर सब कुछ सहन कर रहा है।

एक रोगी को रोगदूर करने के लिये किसी एक वैद्याने तमाकू खाना बतलाया। रोगी ने जन्म से कभी तमाकू न खाया था, अत' प्रारम्भ मे खाना तो दूर रहा, परन्तु उस तमाकू की गन्ध सहन करना भी दुष्कर हो गया। रोग दूर करने मे तमाकू खाना आवश्यक होने के कारण उसने धीरे धीरे आदत डाली। बहुत दिन खाते रहने से अब उसे तमाकू से वह घृणा नहीं रहीं, अब वह खुशी से तमाकू खाता है। तमाकू खाने का अब इतना आदी बनगया कि तमाकू तो महादेवजी को भी प्यारी है, ऐसा कह कर अपनी निर्दोषता स्थापित करने के साथ साथ तमाकू की देवप्रियता का भी वर्णन करने लगा। परिणाम यह हुआ कि उसका रोग तो नष्ट हो गया, किन्तु तमाकू की बीमारी घुस गई। तमाकू बतलाने वाले वैद्यनें कहा कि अब तुम्हे तमाकू सेवन की आवश्यकता नही, परन्तु पौष्टिक पदार्थ दूध, मलाई, मावा वगैरह खाने की जरूरत है। तमाकू के भक्तो को यह बात न रूचि, उसके मन तो तमाकू ही मलाई और मावासे बढ़ कर मालूम दी। एक समय तमाकू की ओर घृणा से देखने वाले के मुख.कमल मे अब जब देखों तब तमाकू लक्ष्मी ही निवास करती नजर आती है। तमाकू व चूना मसलते मसलते उसकी हथेलिया लाल हो गई इतना ही नही किन्तु अब उसके घर की दीवारें तक भी तमाकू के रंग से रगी गई। अन्त में उस मनुष्य ने दु:खित जीवन बिताकर प्राणों का परित्याग किया, परन्तु तमाकू न छुटी। इसी प्रकार कितने एक इष्ट परिवर्तन भी उस तमाकू के समान ही है। हर एक मनुष्य को परम सत्य के साथ साध्यभाव प्राप्त करने के लिये प्रारंभ में उन परिवर्तनों का आश्रय लेना

पड़ता है-उसका आश्रय लिये बिना हमारा आत्मविकाश हो नहीं सकता। व्यबहार में भी अनुभव किया जाता है कि किसी कलामें पारंगत होने के लिये प्रारंभ मे कल्पित या बनावटी साधनो का सहवास रखना पडता है। हमारे बच्चे गुड्डु गुड़ियों आदि के खेल से गृहव्यवहार और कौटुम्बिक सम्बन्ध सीखते हैं। अद्वितीय भौगोलिक बनने के लिये पृथ्वी के बमावटी गोले का आश्रय लेना पडता है। बनावटी नगरों की ओर सावधानता पूर्वक देखना पडता है, ऐसे अनेक उदाहरण स्पष्ट प्रतीत होते हैं। परन्तु जब हम परिपक्व वय को प्राप्त होते हैं तब इस तरह के अर्थक्रिया शून्य गुड्डा गुडियो आदि खिलौनों को हाथ तक नही लगाते। चित्तवृत्ति का विकाश हुये बाद कल्पित बातो की अपेक्षा व्यवहारकि बातें विशेष लाभ करती हैं एव भौगोलिक पडित कुछ निरन्तर ही अपनी जेब में भूगोल के नकशोका पुलिदा नही डालें रखता। यदि हम बाल्यावस्था से लेकर परिपक्व वय होने तक उपरोक्त प्रकार के परिवर्तन न करें और बच्चो की गुड्डा गुडिया वाली खेलन क्रिया को ही चुस्त श्रद्धा पूर्वक पकडे रहें तो क्या निर्वाह हो सकता है? इतने विशाल ससार में क्या एक भी मनुष्य ऐसा देख पडता है कि जो अपनी बालकता को ही बडेपन में भी पूर्णतया पकडे रखता हो? मेरी तो मान्यता है कि हमारी प्रत्येक सामग्री मे परिस्थिति के अनुसार यदि हम परिवर्तन करते रहे तभी हमारा विकाश वृद्धिगत हो सकता है। सामग्रियो में परिवर्तन करने से हमारे पूर्वजो का अपमान नही होता, बल्कि प्रत्युत उन पूर्वजों के लक्ष्य तक पहुचने के लिये जिस तरह हम गुलाब के पौधे की कमल करते हैं वैसे ही हम अपनी पारम्परिक विकारित सामग्रियो की कलम करनी आवश्यक है। ससार में कितने एक प्रसग ऐसे भी उपस्थित होते हैं कि जिनमे कुदरत ही हमें परिवर्तित कर देती है, परन्तु जब हम कुदरतका सामना करके अश्रद्धालु बन बैठते हैं उस वक्त अपरिवर्तित पान के समान हममे दुर्गन्ध की वृद्धि होती रहती है। न फिराये हुये घोडेके समान हमारी गति रूक जाती है और अन्तमे चूल्हे पर न फिराई हुई रोटी के समान हमारे नाश का भी प्रारम्भ हो जाता है। इस रीति से (विकृत परिणम मे रूढ होकर) हम पिता वै जायते पुत्र'-बापके समान बेटावाली कहाबत को झूठ ठहरा कर पुरातन श्री वर्धमान जैसे बुजुर्ग को भी आचार और विचार मे अपने समान मानते हैं यह क्या कम अविवेक है?

सर्व साधारण लोकहित की ओर दुर्लक्ष्य करके सिर्फ अहपदी, स्वार्थी और लोलुप बने हुये ब्राह्मणो ने वैदिक प्राचीन सत्यों मे अनेक सम्मिश्रण कर परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनीय वैदिक पद्धति मे परिवर्तन न करके वर्तमान वैदिक धर्म की श्री वर्धमान और बुद्ध के समय में ऐसा भीषण बनाया था कि

मानों लोक विकाश का संहार करने के लिये कोई पिशाच ही न आया हो?!! उस समय "मां हिंस्यात् सर्वभूतानि" "सत्यं वदेत् नानृतम्" इत्यादि सत्योंका उपदेश करते हुये वैदिक धर्म ने पशुवध और नरवध तक को भी धर्मतया स्वीकृत किया था। "आत्मवत् सर्व भूतेषु" के सिद्धान्त को उद्घोषित करते हुये वैदिक मतने मानों ब्राह्मण सिवास अन्य मनुष्य ही नही हैं, यह समझ कर समस्त अधिकार ब्राह्मणों को देकर दूसरों को उससे सर्वथा वंचित रक्खा था। सत्य वदेत् नानृतम् के नियम पर रचे हुये वैदिक दर्शन ने उस समय के मानव समाज के पैरों मे बैड़ियां पहनाई थीं और हाथों को जकड दिया था। इसी कारण उस समय के समाज का मुख पोषण विहीन होने से विनाशकी अणी पर उसकी राह देख रहा था। पादे कुठार. करके उन चतुर ब्राह्मण गुरूओं ने भी ऐसी भयकर भूल की थी कि जिसके परिणाम में वर्तमान भारत अज्ञानता के चिकने कीचड़ में धस कर आज भी पारतन्त्रय की विषम यातना सह रहा है।

उन ब्राह्मणो ने उस समय के भोले भाले समाज को यह उपदेश दिया था, कि हम जो कहें वही सत्य है, हमारे कथन में किसी को शंका या प्रश्न करने का अधिकार नही है। हमारा निर्णय ईश्वरीय निर्णय है, क्योंकि हम ईश्वरीय प्रतिनिधि हैं। शूद्र नीच मे नीच होने के कारण उन्हें नगर में या गाव मे रहने का अधिकार नहीं। यदि वे नियत किये हुये समय के बिना गांव में तथा नगर मे आवे तो उन्हे प्राणदण्ड की शिक्षा देना यह राजा का कर्त्तव्य है, ऐसा न करने वाला राजा गर्भपात के पापका भागी बनता है। शूद्रो को घरवार का जजाल छोडकर ईश्वर का नाम लेने का-परब्रह्मोपासना का भी अधिकार नही। क्षत्रिय और वैश्य भी हमसे नीचे ही हैं। हम धार्मिक विधिविधानों मे उनका हस्तक्षेप न होने देंगे। हम कहे वैसा करना ही उनका धर्म है। वेदाध्ययन करने का उन्हें अधिकार नहीं, ईश्वर की सन्तान होने के कारण हम ही वेदो के उत्तराधिकारी हैं, हमारा कथन सबके लिये ईश्वरीय फर्मान है विशेष क्या लिखू वर्तमान समय मे जिस तरह गौरांग, श्यामांगों पर अपनी अदमनीय सत्ता का उपयोग कर रहे हैं, वैसी ही कठिनाई युक्त सत्ता ब्राह्मण गुरूओ ने समाज पर चलाई थी। मेरी मान्यता के अनुसार इसका

१ शूद्राद् ब्राह्मण्या चण्डाला x x x कक्षे झल्लरीयुक्त पूर्वाहे मलान्यपकृष्य बहिरपोह्स्यति। ग्रामाद् बहिदूरे स्वजातीयै र्निवसेत्। मध्याह्नात् पर ग्रामे न विशत्यग्रम्, विशेच्चेद् राज्ञा वध्य , अन्यथा भ्रूणहत्या मवाप्नोति (वैखानस धर्म प्रश्न पृ० ४८)।

२ न्यायवान् कहलाने वाले राजा रामचन्द्र ने अपने ब्राह्मण गुरूकी आज्ञासे मात्र सन्यासी बन जाने के अपराध में शूद्रक राजाके प्राण लिये थे, (देखो सीता नाटक)।

कारण यह था कि वैदिक सम्प्रदाय के भूदेव गुरूओं ने मात्र अपने विलास की तरफ ही दृष्टि रक्खी थी और धर्म को उसका खास साधन बनाया था। इसी से वे परिस्थिति, लोकहित या आत्मविकाश से विपरीत प्रवाह में बहने लगे थे। वैदिक सत्य में जो त्रुटियां पूर्वापर से चली आई थीं और जो विशिष्ट साधन लोक हित के लिये उसमें मिलाये गये थे, उनका वे पृथक्करण न कर सके, इससे वैदिक सत्य इतना शोफित (सूज गया) होगया कि जिसके परिणाम में उपनिषदों के प्रवाह से उसे भूशायी होना पड़ा।

यही दशा पोप धर्म की है। यह धर्म पोप-लीला के नामसे प्रसिद्ध है। क्या इसके लिये यह कम शरम की बात है? कहने का सारांश यह है कि परिस्थिति एवं लोकहित को भूल जाने से धर्म में अनिष्ट तत्व पैदा हो जाता है और हुआ है। जो लोकहित के साधन हैं वे भी परिस्थिति के विरोधि प्रवाह में बहने के कारण कितने एक प्राणियों की आत्मा को जकड़ने के लिये रस्सी का काम करते हैं। आज प्रत्यक्ष देख रहे हैं, कि रक्षा करने वाली बाड़ ही खेतको खा रही है, धारण करने वाला धर्म ही उसके आश्रितों को नीचे पटक रहा है और माता पिता के समान धर्म गुरूओं को अपनी सन्तान की वेदना पूर्ण कराहना की ओर दृष्टिपात करने तक का भी अवकाश नहीं मिलता। वे अनेक यातनायें सहते हुये जीते जागते जैनियों की सोचनीय दशा पर दुर्लक्ष्य कर अपनी वशवृद्धि की चिन्ता में लीन हैं। निर्जीव होने तक जैनों की उपेक्षा कर पाषाण खण्डों-मूर्तियों के लिये सरकारी अदालतों में मुकदमेबाजी कराते हैं, निर्धन व निःसत्व होते हुये जैनों की तरफ ध्यान न दे कर सुन्दर में सुन्दर चंदोवा पूठिया के नीचे समवसरण में बैठकर उसी का समर्थन किया करते हैं, निरूद्यमी होते हुये जैनों को बेपरवाह करके वर्तमान समय के विपरीत बड़ी-बड़ी यात्राओं के उपलक्ष में लाखों रुपयों का तगार कराते हैं। जैसे स्त्रियों को वाद्य प्रिय होता है वैसे ही उन्हें भी सामैय्या-जलूस अतिप्रिय लगता है। जिस तरह औरतें गीत से मस्त बन जाती हैं वैसे वे भी गौहली-व्याख्यान में गाई जाती हुई अपनी स्तुति, सुनकर मस्त बने हैं। ज्यों स्त्रियों को जमाई प्रिय होता है त्यों उन्हें भी शिष्य अति प्यारे हैं। यहां पर इस विषय में विशेष कर कर अपनी आत्माको कलुषित करने की मेरी वृत्ति नहीं है, तथापि मैं इतना अवश्य कहंगा कि वर्तमान समय के धर्म गुरू बदले की नीतिकी भी हिफाजत नही कर सकते। क्या ऐसा करते हुये अन्यायार्थ भोजी नहीं कहे जा सकते? मैं उनके चरणों में पड़कर उन्हें यह प्रार्थना करता हूं कि वे अब या तो बदले की नीतिको ध्यान में लेकर अपनी स्थिति को सुधारें या पूर्व मुनियों के समान श्रावकों का संसर्ग छोड़ कर बनवासी बन जायें। परन्तु श्रावकों के हितके बहाने उनके साथ सम्बन्ध रखने वाले खाते खोल कर और उनके प्रत्येक

व्यवहारिक कार्य में दस्तनदाज़ी करके सरकारी पुलिस के समान उनमें पारस्परिक फूट डालकर उन्हें विशेष कदर्थित करने के घृणित कार्य को छोड़ दें।

अब हम पाठकों का इस ओर ध्यान खींचते हैं कि जैन धर्म में ऐसे कौन से परिवर्तन हुये जो इष्ट परिवर्तन और अनिष्ट परिवर्तनकी कोटिमें आ सकते हैं और वे मूल जैन धर्म के साथ कितना सम्बन्ध रखते हैं एवं उस तरह के उसमें संमिश्रण किस किस समय से प्रचलित हुये हैं। मानव जाति इतनी अपूर्ण और परतंत्र है कि उसे प्रत्येक प्रवृत्ति में किसी एक नायक की आवश्यकता पड़ती है। नायक बिना व्यवस्थित प्रवृत्ति नहीं हो सकती। घर सम्बन्धी, बाहर सम्बन्धी, लौकिक या परलौकिक समस्त प्रवृत्तियों में प्राप्त होनेवाली सफलता का कम से कम आधा आधार नायक की आवाज़ पर निर्भर रहता है। मैं स्वयं भी ऐसा हूं कि समझते हुये भी नायक की (घर में बड़े माताजी वगैरह नायक की) प्रेरणा सिवाय पूरा आरोग्य भी नहीं रख सकता। समझता हूं कि अंगुली के मूल भाग में खुजली हो तो खुजाना नहीं, ऐसा करने से एक वेदना को शान्त करते हुये भविष्य मे दूसरी वेदना का होना सम्भव है, तथापि खुजलीके वश होकर हंसते हंसते खुजाने लगता हूं। ऐसी ही स्थिति मैंने सैकड़ों की देखी है, संसार में मेरी वृत्ति वाले मनुष्यों की बहुलता होने से आत्मावलम्बी बहुत कम है, मेरी यह कल्पना सत्य ही प्रतीत होगी। इस तरह की साधारण और क्षुद्र मे क्षुद्र हानिकार प्रवृत्ति से अटकने के लिए भी हमे नायक की प्रेरणा की आवश्यकता पड़ती है, तब फिर जिस अज्ञात पन्थपर हमारे जीवन का विकाश अवलम्बित है उस मार्ग के सिवा दूसरी तरफ ध्यान न जाय इसके लिये हमें किसी एक मार्ग दर्शक की जरूरत हो यह स्वाभावकि बात है। इसी नियम के अनुसार घर में, कुटुम्ब में, जाति मे, बाजार मे, गाव मे, परगने में, ज़िले में, प्रान्त में, और देश में एवं हर एक जगह की व्यापार क्रियाओं में एक एक नायक की योजना की गई है। कोई एक जवाबदार स्थान कल्पित क्यिे सिवा हमें कल नहीं पड़ती। नम्बरदार, थानेदार, न्यायाधीश, मंत्री और राजा आदि की योजना भी हमारी अपूर्णता पर ही निर्भर है, इतना ही नही किन्तु ईश्वर वाद तक की जड भी मनुष्य की अपूर्णता ही है। युगलिकों के लम्बे चौड़े वर्णनों से भी यही सार निकलता है कि एक समय मनुष्य संसार में कोई राजा ना था, न ही कोई आगेवान या गुरू था, तथापि युगलिक लोग अपनी अपनी मर्यादा मे रह कर सिर्फ खेती पर ही अपना निर्वाह करते थे। परस्पर व्यामोह या कलहका नामोनिशान तक भी न था और सबके सब स्वयमेव पूर्ण निरोगी रह कर ऐसा स्वर्गप्रद व्यवहार करते थे कि जो इस समय मात्र हमारे ग्रन्थों में ही शोभा प्राप्त कर रहा है। यद्यपि

युगलिकों को जंगली समझ कर हमें हंसी आयगी, परन्तु वर्तमान सुशिक्षित व सुधरे हुए समाज की परतंत्रता के लिये परिपूर्ण क्या किसी को जरा भी शरम आती है? अस्तु, अन्तिम नतीजा यह निकलता है कि मनुष्य की अपूर्ण स्थिति तक, परिपूर्ण स्वतंत्रताको झेलने की शक्ति प्राप्त हो तब तक हमारे सर्व व्यापारों में नायक के तत्व की अपेक्षा आवश्यक है। जिस तरह हमारे अन्य व्यवहार, हमारे विकाश में नियमित रूप हत्यों धार्मिक व्यवहार भी हमारे लिये परम पथ्य रूप है। उस व्यवहारको मर्यादित रखने के लिये, उसे परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित करने के लिये और उसमें अनिष्टता का संमिश्रण न होने पावे इस बात की हिफाजत के लिये हमे एक गुरू संस्थाकी आवश्यकता अवश्य है। प्रवर्तमान जैन संघकी रचना की स्थापना चाहे जब हुई हो, वर्तमान रत्नत्रय की (देव गुरू धर्म की) योजना चाहे जिसने की हो परन्तु उसमें का उपदेशक विभाग उपरोक्त मुद्दे पर ही नियोजित किया गया है यह मेरी प्रमाणिक मान्यता है। श्रीवर्धमान परम निवृति के उपासक थे। हम भले ही उन पर 'सभी जीव करू शासन रसी, का आरोप करें, परन्तु वे इस आरोप के पात्र न थे। उनके मन हमारा कल्पित हित और अहित दोनो समान थे। वे परम सत्य तक पहुचे हुवे थे, इस कारण उनमें निरन्तर उपेक्षा वृत्ति जागृत रहती थी-अर्थात् उनमें सदैव परम माध्यस्थ भाव रहता था। जो स्थिति परम माध्यस्थ की पराकाष्ठा तक पहुंचे हुये मनुष्य की होती है वैसी स्थिति श्रीवर्धमान की थी। उनकी समस्त क्रियाये औदयिक होती थीं। जो योगी झोंपडी का घास खाने वाली गाय को हटाने मे अपने माध्यस्थका भंग समझता हो उस पर लोक कल्याण कर भावना का आरोप देना यह मात्र उसकी यशोवर्धना है। श्रीवर्धमान की यह परिस्थिति आचरांगसूत्र के नव मे अध्ययन और सूत्रकृताग सूत्र मे वीरस्तुति नामक प्रकरण के अनाडम्बरी उल्लेख से साफ साफ मालूम हो जाती है। ऐसी वृत्ति वाले श्रीवर्धमान के हाथ से ही हमारे धर्म की सगठना या संघ रचना का होना मेरी दृष्टि में सर्वथा अनुचित मालूम होता है। उस समय श्रीवर्धमान ने जो कुछ लोक जागृति की थी उसका समस्त श्रेय उनके मुनिव्रतको ही था। वर्तमान समय मे महर्षि गाधी के समान कहने की अपेक्षा कर दिखलाने से ही उन्होंने दभी ब्रह्मणों के बलको नरम करने की लौकिक निमित्तता प्राप्त की थी। उनके मध्यस्थ जीवन की उद्देश लोक जागृति न था, परन्तु यह बात सिर्फ अनुदृष्टि मेघवर्षण से फलित होनेवाली खेती के समान उनके चारित्र्य प्रभाव से बन गई थी। उनका जीवन और आचरण मेरे जैसे कक्का घोखने वाले मनुष्य के

१ पारम्पर्येण केवल ज्ञानस्य तावत् फलमौदासीन्यम् ।।४।। रत्नाकूसवतारिका, छठा परिच्छेद । औदासीन्य शब्द का विशेष विवेचन इस सूत्र की टीका में देखे।

लिये अनिर्वचनीय है। उनके समय में उनके सत्य पर अमल करने वाले जो निर्ग्रन्थ थे उनमें से कितने एक तो उनकी वृत्तिसे मिलते हुये थे और जो मुमुक्षु उनकी वृत्ति को प्राप्त करने में असमर्थ थे उनके लिये वर्धमान के कितने एक अन्तेवासियों-गणधरोंने परिभाषिक भाषा में कितने एक नियम बना दिये थे। मेरी धारणा है कि वहां तक तो छोटे बड़े सब निर्ग्रन्थ का लक्ष्य परम माध्यस्थ की तरफ ही था। जिसे श्रीवर्धमान ने आचार में रक्खा था, उस लक्ष्य को पाप्त करने के लिये उस समय के स्थविरों ने जो नियम घड़े थे उनमे श्रीवर्धमान का सहयोग भी औदयिक दृष्टि से रहा हो तो यह समयोचित है। समय और कुदरत का यह नियम है कि किसी भी तरह की नियमबद्ध संगठना सिवा नियंत्रण के स्थिर नहीं रह सकती। यद्यपि वह नियमबद्ध संगठना मात्र परिवर्तन की पात्र है, तथापि नियंत्रणाके कारण वह अपने मूल स्वरूप से भ्रष्ट नहीं होती। स्थविरों ने जो नियमबद्ध संगठनायें बांधी थी वे सिर्फ निर्ग्रन्थों के लिये ही थी।

वास्तविक निर्विकारि और अनपवादि स्वरूप निम्न लिखे अनुसार है।

१.— किसी भी मुमुक्षु ने प्राणान्त होने तक किसी प्राणीको दुःख हो वैसी प्रवृत्ति न करना, न कराना और न दूसरे को वैसा करने की सम्मति देना।

२.— किसी मुमुक्षु ने प्राणान्त होने तक असत्य न बोलना, न दूसरे से बुलाना और न ही दूसरे को असत्य बोलने की अनुमति देना।

३.— किसी मुमुक्षु ने प्राण जाने तक दूसरे की वस्तु उसके दिये बिना न लेना, न दूसरे से लिवाना और न ही दूसरे को वैसा करते हुये अनुमति देना।

४.— किसी मुमुक्षु ने प्राण जाने तक अब्रह्मचर्य न सेवन करना, न दूसरे से सेवन कराना और न ही सेवन करने वाले को अनुमति देना।

५.— किसी मुमुक्षुने प्राण जाने तक किसी भी वस्तु पर लेशमात्र भी ममत्व न रखना, न रखाना और न ही ममत्व रखने वाले को वैसा करने में सम्मति देना

इन पाचों प्रतिज्ञाओ को जीवन में उतारने के लिये-प्रत्येक प्रतिज्ञा को पूर्णरूप से पालन करने के लिये वे स्थविर-मुमुक्षु अरण्यमें, बागों में, उद्यान में, गांव बाहर की वसतियों मे या खण्डहरो मे निवास करते थे। जहां तक बन सकता तपस्वी-निराहारी रहते थे। आहार लेना पडता तो बिलकुल रूखा सूखा ग्रहण करते, सो भी शाक-व्यंजन रहित नीरस निर्दोष और परिमित लेते

थे। घी, दूध वगैरह पौष्टिक पदार्थों को वे क्वचित् ही ग्रहण करते थे। गृहस्थो के भोजन कर लेने पर दोपहर के बाद निर्दोष आहार प्राप्त करने का समय अनुकूल समझा जाता था। साधारण नियमानुसार तो विशेषतः निराहारी ही रहना उत्तम गिना जाता था और आहार ग्रहण आपवादिक माना जाता था। सभी मुमुक्षु पात्र न रखते थे। कितने एक मुमुक्षु मात्र कर पात्र थे। वैसे करने में असमर्थ मुमुक्षु मात्र एक या दोही पात्र रखते, सो भी त्याग की दृष्टि से मट्टीका पात्र विशेष ठीक माना जाता था। नग्न रहने मे ही विशेष त्याग समाया था। अधिक मुनि समुदाय नग्न ही रहता था। परन्तु जो लज्जाको न जीत सके थे वे मात्र एक ही वस्त्र धारण करते थे। स्मरण रखना चाहिये कि उस समय के आदर्श श्रावक भी मात्र दोही वस्त्र एक धोती और दूसरा खेश परिधान करते थे। ग्राम मे निवास करना और गृहस्थियों का विशेष सहवास सयम के प्रतिकूल गिना जाता था। वनबाडों को पालन करने में विशेष ध्यान दिया जाता था। (वर्तमान मुनियो मे कोई विरला ही मुनि मिलेगा जो नववाडो को पालन करने में ध्यान रखता हो) और विशेष बोलने की अपेक्षा मुनि भावकी ही प्रधानता श्रेयरूप मानी जाती थी

मुमुक्षु महामुनि अपनी स्वीकृत प्रतिज्ञाओ को जरा भी आच न आने देते थे और उन्हे पूर्ण करने के लिये किसी प्रकार के अपवादका आश्रय भी न लेते थे। श्रीवर्धमान इस तरह के समर्थ पुरूषो मे से एक वीरनर थे। उन्होंने पूर्वोक्त पाचो ही प्रतिज्ञाओ को जीवन पर्यन्त विशुद्ध रूप से पालन किया था। वे इसी लिये मुण्डित हुये थे, नग्न रहे थे, करपात्र बने थे ओर इसी कारण उन्होंने पाशव वृत्ति की ओर से आने वाले सकटो को सहर्ष सहन किया था। इसी प्रकार जो मुमुक्षु वर्धमान की कोटिका सामर्थ्य धारण करते थे, वे भी वर्धमान की चर्याका अनुसरण करने मे पीछे न हटते थे। परन्तु जो मुनि वर्धमान की पाठशाला के अभ्यासी थे, जिनमे प्राण जाने पर भी प्रतिज्ञा न जाने पावे ऐसी वृत्ति प्राप्त होने मे बिलम्ब था, जो पर्वतके समान अकम्पता और भूमिके समान सर्व सहनता तक न पहुचे थे, परन्तु उसके तीव्र अभिलाषी थे वे अपने ध्येय तक ही पहुचने के लिये कितनी एक छूट ग्रहण करते थे। वह छूट भी और किसी बात मे नहीं किन्तु सिर्फ एक दो पात्र रखने और एकाध वस्त्र, सो भी गृहस्थ का बर्ता हुआ रखने की छूट रखते थे। यह

१ देखो आगमोदय समितिवाला सूत्रकृताग सूत्र, उपसर्गा ध्ययन गाथा ८-१० पृ० ८-१०

२ नन्नत्थ एगेण खोमजुयलेण, अवसेसं वत्थविहि पच्चखामि, अर्थात् आनन्द श्रावक क्षोमयुगल याने सूत्र के दो वस्त्र के सिवा अधिक वस्त्र ग्रहण न करने का नियम धारण करता है। उपासक दशागसूत्र पृ० ३ (समितिलावा)

छूट लेने पर भी उनकी सदैव यही भावना रहती थी कि हम कब लज्जाको जीत कर सर्वथा यथागत होकर, पात्रकी भी गरज न रख कर संयमका निर्वाह करके अपने उस उच्च लक्ष्य को प्राप्त करेंगे। छूट लेने वाले छूटका समर्थन न करते थे, परन्तु जिस तरह वृद्ध अनुभवी वैद्यकी अनुमति से रोगी औषधि सेवन करता है आतुरता के साथ ऐसे आरोग्य प्राप्त हो और इस औषधि से पीछा छूटे। इस प्रकार का उनका आचार था। यहा पर मैं उनके आचार के सम्बन्ध में बहुत कम लिख सका हू, परन्तु इस विषय को परिपूर्ण समझने की जिज्ञासा वाले पाठकों से मैं निवेदन करता हू कि वे आचारांग सूत्र भाषान्तर आद्योपान्त पढ़कर अपनी जिज्ञासा पूर्ण कर ले। मुनियो के पूर्वोक्त आचार आज भी विद्यमान आचाराग सूत्र मे वैसे ही उल्लिखित हैं। मेरी मान्यता है कि त्याग के पावन्द आचार्यो ने इस उल्लेख के मूल भाग में बहुत कम परिवर्तन होने दिया है। अगसूत्रो मे मैंने मुनियों के आचार के सम्बन्ध में बहुत कुछ पढ़ा है उसमे दीक्षित होनेवाले मुनि के लिये मात्र दो ही उपकरण-एक पात्र और दूसरा रजोहण ग्रहण करने की बात आती है। मेरा ख्याल है कि दो उपकरण हो या एक दो अधिक हो इसमे विशेष विचार की कोई बात नही है, क्योंकि उन उपकरणों का उपयोग सिर्फ औषधि के समान किया जाता था। और निरूपकरणी बनने के लिये ही उनकी आवश्यकता थी।

पूर्वोक्त प्रकार से श्रीवर्धमान, उनके अनुयायी स्थविर और उनका प्रवचन इन सबकी एक समान अनाग्रही एव स्याद्वादमयी स्थिति होने पर भी वर्तमान में वर्धमान के शासन मे एक पक्ष नग्नता का ही पोषण करता है। किसी मुमुक्षु से प्रारम्भ मे न धारण की जाती हो तो उसकी मुनिता का निशेध करता है। मेरे देखने मुजब उनके साहित्य मे-दिगम्बर ग्रन्थो मे आदान समिति और पारिष्ठापनिका समिति की विहितता होने पर भी वे कारणिक वस्त्र पात्रका ऐसा सक्त निषेध करते हैं कि जिसके परिणाम मे उन्हे वर्तमान समय में मुनिमार्गका लोप सहन करना पडता है। जिस तरह कोई मनुष्य अपने पुत्र को कहे कि तुझे पण्डित परीक्षा उत्तीर्ण करती है, परन्तु यह ध्यान में रखना कि वर्णमाला पढने के लिये शिक्षकके पास जाने की जरूरत नहीं है और न ही पहली, दूसरी, तीसरी एव क्रमवार नियुक्त की हुई पाठ्य पुस्तकों का अध्ययन करना है, सीधा ही उच्च श्रेणी का पण्डित बनना है। बस इस कथन के समान ही उस पक्षकी मोक्ष मार्ग में वस्त्र पात्र बाद के एकान्त निषेधकी आग्रह दशा है। यह समाज नग्नता का पोषक होते हुए भी मूर्तिवाद को स्वीकृत करता है और उसके लिये वर्तमान मे बडे बड़े मुकदमे

करने तक भी नहीं चूकता। यह दशा दिगम्बर जैन समाज की है। श्वेताम्बर पक्ष वस्त्र पात्रवादको* ही अवलम्बित करता है। उपरोक्त प्रकार से उसके सूत्र ग्रन्थों में स्पष्टतया अचेलकता का विधान विद्यमान है, तथापि अचेलक शब्द का अनुदरा कन्याके समान अपने लिये अनुकूल अर्थ किया जाता है। जिसके परिणाम में आज इस समाज के मुनि वस्त्र पात्र के गट्ठड तक रखने लग गये हैं। इन में से मेरा श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सप्रदाय मूर्तिवाद को ही स्वीकारता है और सो भी यहां तक कि मूर्ति के नाम से बडी बडी दुकानें खोलकर लाखो रुपयों का धन संग्रह करने मे ही इन्द्रासन की प्राप्ति का स्वप्न देख रहा है, मूर्ति के ही नाम से विदेशी अदालतों मे जाकर समाजकी अतुलधन सम्पत्तिका तगार कर रहा है। यह सम्प्रदाय कदोरा-कटी सूत्रवाली मूर्तिको ही पसंद करता है, उसे ही मुक्ति का कारण समझता है। वीतराग सन्यासी-फकीर की प्रतिमा को जैसे किसी एक बालक को गहनो से लाद दिया जाता है उसी प्रकार आभूषणों से शृगारित कर उसकी शोभा मे वृद्धि की समझता है और परम योगी वर्धमान या इतर किसी वीतराग की मूर्तिको विदेशी पोशाक जाकिट, कालर, घडी वगैरह से सुसज्जित कर उसका खिलौने जितना भी सौन्दर्य नष्ट भ्रष्ट करके अपने मानव जन्म की सफलता समझ रहा है। इस समाज के कुलगुरूओ ने अपने को पसद पडे हुये वस्त्र पात्र वादके समर्थन के लिये पूर्वके महापुरूषो को भी चीवर धारी बना दिया है और श्रीवर्धमान महाश्रमण की नग्नता न देख पडे इस प्रकार का प्रयत्न भी किया है। इस विषय के अनेक ग्रन्थ लिख कर वस्त्र पात्र वादको ही मजबूत बनाने की वे आज तक कोशिश कर रहे हैं। उनके लिये आपवादिक माना हुआ वस्त्र पात्र वादका मार्ग औत्सर्गिक मार्ग के समान हो गया है। वे इस विषय में यहां तक दौड़े हैं कि चाहे जैसे अगम्य जगल मे, भीषण गुफामे,, या चाहे जैसे पर्वत के दुर्गम शिखर पर भावना भाते हुये केवल ज्ञान प्राप्त हुये पुरूष या स्त्री के जैनी दीक्षाके लिये शासनदेव कपड़े पहनाता है??? और वस्त्र के बिना केवल ज्ञानिको अमहाव्रती तथा अचारित्री कहने तक भी नही हिच-किचाये। कोई मुनि वस्त्र रहित रहे यह बात उन्हें नही रूचती, उन के मन वस्त्रपात्र बिना किसी की गति ही नही होती। किसी दस्तो की बीमारी

१- तेरहवी शताब्दी के एक दिगम्बर पण्डित श्री आशाधर जी ने ३६ सागार धर्मामृत में पृ० ४३० में लिखा है कि यह पचमकाल धिक्कार का पात्र है, क्योंकि इस कालमें शास्त्रभ्यासियों का भी मंदिर या मूर्तियो के सिवाय निर्वाह नही होता।

* अनेकान्तवाद की दृष्टि से किसी तरह की मान्यता से भी हानि नहीं होती, किन्तु 'भी' के स्थान में जो 'ही' घुस गया है उसीने इस अनेकान्त-अपेक्षावाद को बिकृत कर कदाग्रहों द्वारा छिन्न भिन्न कर डाला है।

वाले को वैद्य ने अफीम खाने को कहा हो और फिर वह दरदी हमेशा के लिये अफीमची-अफीमका गुलाम बन गया हो, वैसे ही इस पक्ष के मुनि आहार, वस्त्र और पात्र के आपवादिक विधान को पकड़ कर उसके गुलाम बने देख पड़ते हैं। इतने ही से बस नहीं किन्तु दिन प्रतिदिन इन मुनियों की आवश्यकतायें, इनके अखराजात इतने बढ़ गये है कि समाज उन्हें पूर्ण करते हुये निचड़ गया है, निचड़ता जा रहा है। (साधारण स्थिति के श्रावक बड़े बड़े नामधारी व पदवीधारी मुनियों का चातुर्मास कराते हुये डरते हैं) वर्तमान समय में आदर्श में आदर्श सद्गृहस्थ जिस मितता का सेवन करता है, उससे समानता करें तो अचेलक वर्धमान के मुनियोका पलड़ा बिल्कूल नीचे नम जाता है। मैं मानता हू कि वे अपनी इस तरह की प्रवृत्ति से महाश्रमण श्रीवर्धमान और उनके प्रवचन की घोर आशातना कर रहे हैं। वे इस प्रकार का भीषण मूर्तिवाद स्वीकारते हैं कि जिसमें तमाम प्राणियों को शान्तिदान देनेवाली वर्तमान समय में अहिंसा देवी भी होमी गई है। वे ज्ञान की पूजा पढ़ाते हैं, ज्ञान के समक्ष लड्डू, बतासे और पैसे चढवाते हैं, परन्तु उनकी सन्तान प्रतिदिन अज्ञान, विद्याविहीन होती जा रही है, उनका साहित्य बन्द किये भाण्डारो मे सडता जा रहा है, परन्तु इस ओर लक्ष्य न देकर उन ज्ञानके पुजारियो ने ज्ञान भाण्डारों पर अपने डबल चाबी के ताले लगाकर उसे अपना कैदी बना रक्खा है। जिस तरह ज्ञानके लिये वैदिक धर्म मे वेदोंका ठेका ब्राह्मणों ने ही ले रक्खा है वैसे ही इस पक्ष के मुनि (चाहे वे मेरे जैसे गृहस्थ के पास ही पढ़े हो) कहते हैं कि सूत्र पढ़ने का अधिकार मात्र हमें ही है-श्रावकों को नहीं। उनकी धार्मिक संपत्ति मे परम निर्ग्रन्थता, आदर्श श्रावकता, उच्च जीवन, नाग्रही जीवन, इत्यादि अहिसकता, प्रमाणिकता, मार्गानुसारिता, इत्यादि सद्गुणों के बदले विलासी साधुता, नामकी श्रवकता, चेलो की वृद्धि, पुस्तकों की ममता, अयुक्त पदवियों का मिथ्या आडम्बर, गुणी और गुणकी ओर ईर्ष्यालुता, बडे बडे देवालय, अचेलक और परम तपस्वी तीर्थकारो के लाखों रुपयो के जेवर तथा शत्रुजयवासी आदीश्वरका कई लाख का जवाहराती मुकुट है। मुझे अपने इसे कमनसीब समाज की दुर्दशा का चित्र खीचते हुये बड़ा दु ख होता है। मैं यह भी मानता हू कि यदि

१ कुर्मापुत्र नामक मुनि केवल ज्ञान प्राप्त होने पर विचार करता है यदि मैं चारित्र ग्रहण करू तो पुत्र शोक मे मेरे माता पिता की मृत्यु हो जायगी।, १२५, "किसी तीर्थकर को इन्द्रने पूछा कि यह कुर्मापुत्र केवली महाव्रती कब होगा? १७५-कुर्मापुत्र चरित्र देखो। इससे आप समझ सकते हैं कि जैन ग्रन्थकार सिर्फ वस्त्र रहित केवली को भी महाव्रती नहीं मानते। जैन कथानुयोग की यह विचित्रता देखने लायक है।

ऐसे समय में जबकि सारा समाज विचार शून्य होकर गतानुगतिक के प्रवाह में बहा जा रहा है, कोई विचारक अपने पूर्वजो के वचनों का अनुकूलतानुसार उद्योग करने का प्रयत्न करे तो संभव है कि उसकी और भी खराब स्थिति हो जाय। इस श्वेताम्बर पक्ष में एक और पन्थ है, जिसे स्थानकवासी के नाम से पहचानते हैं। यह सप्रदाय मूर्तिवादको नहीं मानता। इसके साधुओं में कहीं कहीं पर त्याग की भावना देख पड़ती है, परन्तु वर्तमान में वे भी अपने लक्ष्य से बिलक्ष्य हो फैशन की ओर खिचे जा रहे हैं। मेरी मान्यता के अनुसार मूर्तिवाद को सर्वथा अविधेय मानना भी अनुचित है। ऐसा करने से बहुत से बालजीवों के जीवन विकाश में बाधा पडती है, "भक्तिमार्ग का अवलम्बन करने वालों का कल्याण अटक जाता है" खैर, करे सो भरे और जैसा बोवे वैसा काटे। मुझे सबसे विशेष यह बात खटकती है कि इन तीनों पक्षवालों ने भले ही अपने अपने अनुकूल जुदे जुदे मन्तव्य प्रचलित किये, परन्तु इन्होंने उन मन्तव्यो को वर्धमान के नाम पर चढ़ाने का जो साहस किया है उसे मैं भयंकर पाप-अपराध-अन्याय मानता हूं और यह अपराध करते हुये उन्होंने अपनी अनुकूलतानुसार संकलित किये हुये अपने अपने मन्तव्य का जो एकान्त समर्थन और परस्पर इतर का तिरस्कार किया है इसे मैं महा भीषण तमस्तरण की भगिनी समझता हू।

पाठक प्रश्न करेगे कि इस तरह रजसे गज बनने और राईसे पर्वत बनने का हेतु क्या है? उत्तर मे मुझे नम्रता पूर्वक कहना पडेगा कि इसका एक मात्र हेतु जैनसाहित्य का विकार है। साहित्य में समय समय पर परिवर्तन होना स्वाभाविक है, परन्तु जो परिवर्तन अनिष्टाकार में होता है उसका परिणाम समाज के हित के बदले विनाश मे उपस्थित होता है।

शरीर मे चढ़ा हुआ सोजा एक भीषण व्याधि माना जाता है, वैसे ही साहित्य पर चढ़ा हुआ एकान्तताका और अनुकूलता-स्वच्छन्द का सोजा भी उतना ही भयंकर है। साहित्य के सोजे के उतारने के लिये यदि कोई अमोघ उपाय हो तो वह उसका यथातथ्य इतिहास है। यहां पर मुझे पाठकों के समक्ष साहित्य के साथ सम्बन्ध रखनेवाली समस्त ऐतिहासिक परिस्थिति के कथन करने का अवकाश नहीं है, तथापि अपने निबन्धक मूल मुद्रों को पृथककरण पूर्वक व्योरेवार विवेचन करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं। उन मुद्दों का क्रम मैंने इस प्रकार रक्खा है। १ श्वेताम्बर दिगम्बरवाद, २ चैत्यवाद, ३ देवद्रव्यवाद, और ४ आगमवाद। मेरा सारा व्याख्यान (यह निबन्ध) इन चारो मुद्दों में ही पूर्ण होगा।

पहले मुद्दे में दिगम्बर श्वेताम्बर के इहितास को प्रकाशित करना है।

उसमें दोनों मतों के मूल कारण के सम्बन्ध में विशेष गवेषणा पूर्वक विचार करना है और साथ ही इस बात का भी विचार करना है कि अंगसूत्रों में इस विषय में क्या-क्या प्रतिपादन किया गया है, एवं श्वेताम्बर दिगम्बरों के संप्रदाय भिन्न हुये बाद जैन शासन को कैसी कैसी खराब स्थितियों में से गमन करना पड़ा है।

दूसरे मुद्दे में चैत्यवाद पर प्रकाश डाला जायगा। उसमें मुख्य तया अनेक प्रमाणों सहित चैत्यवाद का मूल अर्थ समझाया जायगा और साथ ही यह भी बतलाया जायगा कि अंगसूत्रों में चैत्य शब्द किस किस जगह कैसे कैसे अर्थों मे उपयुक्त किया गया है। चैत्य की उपयोगिता और उसका मूर्तिपूजा के इतिहास के साथ क्या सम्बन्ध है इस बात का भी स्पष्टीकरण किया जायगा। एवं इस दूसरे मुद्दे मे मूर्ति पूजा की आवश्यकता बतलाये बाद मूर्ति कैसी होनी चाहिये? उसे कहा रखना चाहिये? वह नग्न होनी चाहिये या कान्दोरे वाली-कटी सूत्र वाली होनी चाहिये? इत्यादि मूर्ति विषयक अनेक प्रश्न, प्रमाण पूर्वक स्पष्ट कर देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हू।

तीसरे में देवद्रव्य के सम्बन्ध मे चर्चा होगी। वह कल्पित है या अहिंसा वगैरह के समान अपरिवर्तनीय तत्व है? अगसूत्रों में उसका विधान या उल्लेख है या नहीं? उसकी उत्पत्ति या प्रारम्भ कबसे हुआ किसने और किस लिये किया? इत्यादि विषयो पर व्योरेवार विचार किये बाद देवद्रव्य का वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध मे खुलासा करने का यथामति प्रयत्न किया जायगा। बीच मे ही प्रस गोपात देवद्रव्य के साथ सम्बन्ध रखने वाली कितनीएक कथाओ की शास्त्रीय असगतता बतला कर जैन कथानुयोग के सम्बन्ध मे भी दो शब्द लिखे जायेंगे।

चौथे मुद्दे में यह लिखा जायगा कि सूत्रो को क्या साधु ही पढ़ सकते है? क्या सचमुच ही श्रावको को सूत्र पढ़ने का अधिकार नही है? आगम पढ़ाने के लिये वर्तमान समय मे जो उपधाना की प्रथा प्रचलित है, वह कब से चली? क्यों चली? साधुओ को ही आगम पढ़ने का प्रमाण पत्र या पट्टा किसने लिख कर दिया? इस विषय मे मुनियो के आचार सूत्रो मे या अन्य ग्रन्थो मे क्या लिखा है? इस प्रकार मुझे इन चारो मुद्दों पर अनुक्रम पूर्वक विवेचन करके इस चर्चा के सम्बन्ध मे अपना निर्णय समाज के समक्ष रखना है।

श्वेताम्बर दिगम्बरवाद।

श्वेताम्बर और दिगम्बर ये दोनों शब्द जैन संप्रदायके श्रमणोपासको-श्रावकों के साथ जरा भी सम्बन्ध नही रखते। यदि उनके साथ सम्बन्ध लगाया भी जाय तो दोनों शब्दो का उनमें प्रवृत्तिकारण न घटने से उनके लिये ये दोनों शब्द निरर्थक से ही हैं। उनमें श्वेताम्बरत्व या दिगम्बरत्व सूचित करनेवाला एक भी चिन्ह न होने से श्वेताम्बर और दिगम्बर सज्ञा वर्षाती कीडेको इंद्रगोप (इंद्रका पालन करने वाला) कहने के समान पारम्परिक रूढ़ और अर्थ शून्य है। यदि श्वेताम्बर कहलाने वाले गृहस्थ मात्र श्वेत ही वस्त्र पहनते हो और दिगम्बर कहलाने वाले नग्न ही रहते हों तो उनके लिये उपरोक्त शब्द का व्यवहार किया जा सकता है, यह व्युत्पत्ति शास्त्रका नियम है। इससे मैं यह अनुमान कर सकता हू कि इन शब्दों की प्रवृत्ति चाहे तब हुई हो, परन्तु उसका मूल कारण हमारे मुनिराज ही होने चाहियें। इन शब्दो के मूल प्रवर्तक साधु मुनियों को वर्तमान सरकार की ओर से धन्यवाद मिलना चाहिये, कि जिसके परिणाम मे वह अदालतों के द्वारा दोनों समाजों से लाखो रुपये कमा रही है। श्वेताम्बर और दिगम्बर संज्ञा का सम्बन्ध मुनियों की चर्याके साथ ही है, इससे और भी एक बात मालूम हो जाती है और वह यह कि उस समय दोनों के श्रमणोपासकों की चर्या मे कुछ भी भेद न होगा। वर्तमान मे जो भेद देख पडता है यह उन्ही तपोधनो के दुराग्रहरूप तालवृक्ष का रस है जिन्होने साधारण-प्रकार के भेद को भी एक मार्गरूप से पकड़ रक्खा होगा। इस बात की यथार्थता का अनुभव तो तभी हो सकता है जब कि हमारा पीया हुआ कदाग्रहतातवृक्ष रस का नसा उतर सके।

श्वेताम्बरों के सूत्र कहते है कि वस्त्र और पात्र भी रखने चाहिये, इसके बिना दुर्बल, सुकुमार और रोगियो के लिये संयम दुराराध्य है। यदि साधु वस्त्र न रक्खें तो ठडी के मौसम मे असहनशील साधुओ की क्या दशा हो? अग्नि सुलगाकर तापने मे जो हिसा लगती है वस्त्र रखने मे उतनी हिंसाका सभव-नहीं है। मुनियो को विशेषत जगलो में रहने के कारण वहा पर मच्छर आदि जन्तुओं का उपद्रव होने का विशेष संभव है, अत· जो मुनि इतना दुःख न सह सकता हो यदि वह वस्त्रादि न रक्खे तो उसे बिना कारण संयम पालने से पीछे हटना पडता है। तथा जिस मुनिने लज्जा को नहीं जीता है उसे भी वस्त्र रखने की आवश्यकता है। क्योंकि वह मुनि फटा टूटा वा

पुराना, मैला कुचैला या किसी का उतरा हुआ वस्त्र अपनी कमर पर लपेट कर लज्जा को जीतनेका प्रयास कर सकता है। जब उसे जरा भी लोकलाज का भय न रहे तब वह यदि वस्त्र न रक्खे तो वैसा हो सकता है। इसी प्रकार पात्र रखने में भी संयम की ही साधना समाई हुई है। आहार करते समय मात्र हाथ ही में लेकर स्निग्ध और द्रवित पदार्थ खाने से उसका कितनाएक हिस्सा नीचे भी गिर जाता है और उससे कल्पित दृष्टि से हिंसा की विशेष संभव है। तथा जो मुनि बीमार हो, बिस्तर से उठ न सकता हो उसका भी पात्र बिना निर्वाह नहीं हो सकता। यदि पात्र हो तो उसके लिये दूसरा मुनि पात्र द्वारा तदुचित आहार पानी ला सकता है, एवं पात्र होने से ही उसके सौच वगैरह कर्म हो सकते हैं। जो साधु वस्त्र पात्र रक्खे बिना निर्दोष संयम पाल सकते हैं उनके लिये वस्त्र पात्र रखने की कोई राजाज्ञा नही है। विक्रमकी ७ वीं ८ वीं शताब्दी तक तो साधु कारण पड़ने पर ही वस्त्र रखते थे, सो भी मात्र एक कटीवस्त्र ही रखते और यदि वह कटीवस्त्र भी निष्कारण पहना जाता तो वह साधु कुसाधु माना जाता था। इस विषय में श्री हरिभद्र सूरिजं ने अपने संबोध प्रकारण में इस प्रकार उल्लेख किया है।

"कीवो न कुणइ लोयं, लज्जइ पडिमाइ जल्ल मुवणेइ। सोवाहणो ये हिंडइ बंधइ कडिपट्टयमकाज्जे" (संबोध प्रकरण पृ० १४)

अपने समय के कुसाधुओं का स्वरूप दर्शाते हुये श्री हरिभद्रसूरि ने उपरोक्त गाथा में बतालाया है कि "क्लीब-दुर्बल श्रमण लोच नहीं करते, प्रतिमा वहन करते शर्माते हैं, शरीर पर का मल उतारते हैं, पैरों में जूता पहन कर चलते हैं और-बिना प्रयोजन कटी वस्त्र बांधते हैं।

इस प्रकार साधुओं को एक कटिवस्त्र ही रखने की बात साबित होती है और सो भी सूत्र साहित्य की संकलना हुये बाद के ग्रन्थों से, याने अर्वाचीन ग्रन्थो से प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में आचाराग सूत्र में लिखा है कि जो साधु वस्त्र नहीं रखता उसे यह चिन्ता नहीं रहती कि-मेरा वस्त्र फट गया, दूसरा वस्त्र मांगना पड़ेगा, सूत मांगना पड़ेगा, सुई मागनी पड़ेगी, वस्त्र सीना पडेगा, पहनना पड़ेगा इत्यादि (३६०)

"वस्त्र रहित रहनेवाले मुनियों को कदाचित् तृण कांटे, ठडी, ताप लगने, डास, मच्छर वगैरह का कष्ट सहना पड़े, परन्तु ऐसा करने से लाघव (अल्प चिन्ता-निरूपाधिकता) प्राप्त होती है और तप भी होता है" (३६१)

"अत: जो भगवान ने कथन किया है उसी को समझकर ज्यो बने त्यों सब जगह समानता जानते रहना," (३६२)

आचारांग सूत्र के उपरोक्त उल्लेख से यह बात साफ मालूम होती है कि समर्थ एव सहन शील मुनि सर्वथा नग्न रहते थे और भगवान की बतलाई हुई समता को कायम रखने का भरशक प्रयत्न करते थे। उस सूत्र में ऐसा एक ही नहीं किन्तु अनेक उल्लेख मिलते हैं। उसमें दूसरे श्रुतास्कन्ध विभाग में, वस्त्रैषणा नामक एक प्रकरण आता है, जिसमें मुनिको कैसे वस्त्र और क्यो लेने चाहियें, इस विषय का व्योरेवार स्पस्टीकरण किया है। वहा बतलाया गया है कि- "तीसरी प्रतिज्ञा-साधु या साध्वीको जो वस्त्र गृहस्थी ने अन्दर पहन कर वर्त लिया हो वा ऊपर पहन कर वर्त लिया हो उस तरह का वस्त्र गृहस्थी से माग लेना अथवा गृहस्थ स्वयं देवे तो निर्दोष समझ कर ग्रहाण करना।" (८१३)

"चौथी प्रतिज्ञा-मुनि या आर्याकों फेक देने लायक वस्त्र मागना चाहिये, याने जिस वस्त्र को अन्य कोई भी श्रमण, मुसाफर, रक या भिखारी न चाहे वैसा वस्त्र मांग लेना या गृहस्थ स्वय देवे तो निर्दोष मालूम होने पर ग्रहण करना।" (८२४)

उस सूत्र मे वस्त्र रखने के कारण वतलायें हुये कहा गया है कि जो साधु वस्त्र रहित-नग्न होता है उसे यह मालूम होता है कि मैं घास का या काटे का स्पर्श सह सकता हू, शीत, ताप, डास, तथा मच्छरो के उपद्रव को सहन कर सकता हू, एव अन्य भी पतिकूल, अनुकूल परिषह सह सकता हू। परन्तु नग्न रहते हुये लज्जा परिषहको सहन न कर सकने वाला मुनि कटिबन्धन-कटिवस्त्र रक्खे। (४३३)

"यदि लज्जा को जीत सकता हो तो अचेल (नग्न दिगम्बर) ही रहना। वैसे रहते हुये तृणस्पर्श, शीत, ताप, डास, मच्छर तथा अन्य भी जो अनेक परिषह आवे उन्हे सहन करना, ऐसा करने से अनुपाधिकता-लाघव प्राप्त होता है और तप भी होता है। अत. जैसा भगवान ने कहा है उसी को समझ कर ज्यों बने त्यों सब जगह समता समझते रहना।" (४३२)

कितने एक मुनि एक वस्त्र और एक ही पात्र रखते थे या दो वस्त्र और दो ही पात्र रखते थे। इस विषय मे निम्न उल्लेख में बतलया गया है कि-

"जिस साधु के पास पात्र के साथ मात्र एक ही वस्त्र हो उसे यह चिन्ता न होगी कि मैं दूसरा वस्त्र मांगूगा। वह मुनि निरवद्य वस्त्र की याचना करे और जैसा मिले वैसा पहने। यावत् ग्रीष्मर्तु आने पर उस जीर्ण वस्त्र का परित्याग कर दे, अथवा वह एक वस्त्र कहने। परन्त् अन्तमें उसे छोड़ कर वस्त्र रहित हो निश्चिन्त हो जाय। ऐसा करने से उसे तप प्राप्त होता है।

अतः जैसा भगवान ने कथन किया है उसे ही समझ कर ज्यों बिन त्यों सर्वत्र समता समझते रहना।" (४२९)

जिस मुनि के पास पात्र के साथ दो वस्त्र हों उसका यह भाव न होगा कि मैं तीसरा वस्त्र मांगूगा। यदि दो वस्त्र न हो तो यथायोग्य वस्त्र मांग लेना और जैसा मिले वैसा ही पहनना। इस प्रकार साधुका आचार है" (४२४)

"जो साधु यह माने कि शीतर्तु बीत गई, ग्रीष्मर्तु आगई है, वह उन-परिजीर्ण वस्त्रों को परठ दे-त्याग दे या समय पर-कारण पड़ने पर पहने या कम कर दे, याने एक वस्त्र रक्खे और अन्तमें उसे भी छोड़ कर वस्त्र रहित दिगम्बर होकर निश्चिन्त बने। ऐसा करते हुए तप प्राप्त होता है, अत जैसा भगवान ने कथन किया है उसे वैसा समझ कर ज्यों बने त्यों सर्वत्र समता समझना" (४२५)

जो मुनि सहनशीलता के अभाव से या लज्जाके कारण एक या दो वस्त्र रखते हैं, वैसे वस्त्रधारी साधुओ के विषय में आचाराग सूत्र मे निम्न लिखे मुजब बतलाया है।

"भिक्षु या भिक्षणी एषणीय वस्त्रो की याचना करे, जैसा मिले वैसा पहंने, परन्तु उसमे सुधार न करे, तथा उसे धोना या रगना नहीं। यदि धोया हुआ या रगा हुआ हो तो पहनना नही एव ग्रामान्तर जाते समय वह अल्पवस्त्री मुनि उसे छिपाये नही, वस्त्रधारी मुनिका यही आचार हैं" (८३२)

स्थानाग सूत्र में भी वस्त्र रखने के यही कारण बताये हैं, जैसे कि "ये तीन कारण हो तो साधुने" (वत्थ) एक वस्त्र धारण करना, लज्जा, घृणा और परिषह, अर्थात् जो साधु लज्जा, घृणा को नही जीत सका है और सकटो को सहन नही कर सकता वह एक वस्त्र धारण करे।

जो कारण वस्त्र रखने के ऊपर बतलाये हैं वैसे ही पात्र रखने के कारण भी सूत्र ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। इस विषय मे भी आचारांग सूत्र के पूर्वोक्त पात्रैषणा, नामक प्रकरण में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है।

"मुनि या आर्या को जब कभी पात्र की आवश्यकता पडे उस समय तुबीपात्र या मट्टीका पात्र अथवा इसी तरह का कोई भी पात्र ग्रहण करना। जो मुनि युवा या मजबूत बांधे वाला हो उसे मात्र एक ही पात्र रखना चाहिये, दूसरा नहीं।" (८४१)

उपरोक्त विषय को पुष्ट करने वाला स्थानागसूत्र में भी निम्न उल्लेख पाया जाता है-

निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थ तीन प्रकार के पात्रों को उपयुक्त कर सकतें हैं, तूंबी पात्र, काष्ठ पात्र और मृत्तिका पात्र, पात्र रखने के कारण बतलाये हुये स्थानांगसूत्रकी बारहवी शताब्दी की रचित टीकामें भी निम्न उल्लेख मिलता है।

."असक्त, बाल, वृद्ध, नवीन दीक्षित भिक्षु, अतिथि गुरू और सहनशील वर्ग इन सबके लिये पात्र रखने की आवश्यकता है, तथा साधारण साधु समुदाय के लिये और जो साधु बिना पात्र निरवद्य रीति से आहार न कर सकता हो उसके लिये भी पात्र की आवश्यकता है।"

१–"जे अचेले परिवुसिए, तस्संणं भिक्खुस्स णो एवं भवइ:-परिजिन्ने में वत्थे, बत्थे जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संस्सामि, सीविस्सामि, उक्तसिस्सामि, बोक्तसिस्सामि, परिहरिस्सामि पाउणिस्सामि"। (३६०)

"अदुवा तत्थ परक्तमतं भुज्जो अचेलं तणफास फुर्सति, सीयफासा फुंर्सति, तेउफासा फार्सति, दंसमसगफासा फुर्सति, एगयरे, अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति। अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमाण्णागए भवति" (३६१)

"जहेयं भगवता पवेदित तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए .समत्तमेव समभिजाणिया"। (३६२)

२–"अहावरा तच्चा पडिमा-से भिक्खूवा भिक्खूणीवा, से जं पुण वत्थ जाणेज्जा। तजहा-अतरिज्जग वा उत्तरिज्जगंवा, तहप्पगारं वत्थ सथं वा ण जाणेज्जा, जावपडिग्गहेज्जा। तच्चा पडिमा" (८१३)

अहावरा चउत्था पडिमा-से भिक्खु वा भिक्खूणी वा उज्झियधम्मिय वत्थं जाइज्जा। ज चऽण्णे बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-बाणी-मगाणावकंखंति। तहप्पगारं उज्झियधम्मियं वत्थं सय बाणं जाणेज्जा, पेरा वा से देज्जा, फासुय जाव पडिग्गहेज्जा। चउत्था पडिमा" (८१४)

३–"जे भिक्खू अचेले परिवुसिते, तस्स णं एवं भवति, चाएमि अहं तणफास अहियासित्तए, सीयफायं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, दंसमंसगफासं अहियासित्तए, एगयरे, अन्नतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छादणं च णो संचाएमि अहियासित्तए, एवं से कप्पति कडिवधणं धारित्तए" (४२३)

"अदुवा तत्थ परक्तमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दसमेसगफासा फुसंति, एगयरे, अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति। अचेले लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवति। जहेतं भगवया पवेदियं तमेव अभिसमेच्चा सव्वओ स वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया" (४३४)

४—"जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिते पायवितिएण, तस्स णो एवं भवइ-बितिय वत्थं जाइस्सामि। से अहेसणिज्जं वत्थ जाएज्जा, अहापरिग्गहियं वा वत्थ धारेज्जा-जाव गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुन्नं वत्थं परिट्ठवेज्जा। अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ। जहेयं भगवया पवेइय तमेव अभिसमेच्चा सव्वाओ सव्वत्तए समत्तमेव, समभिजाणिया" (४२९)

"से भिक्खू दोहि वत्थेहिं परिवुसिते पाततितिएहिं, तस्सण णो एवं भवति, ततियं वत्थं जाइस्सामि। से अहेसणिज्जाइं वत्थाइंजाएज्जा जाव-एवं खलु तस्स भिक्खूस्स सामाग्गिय" (४२४)

"अह पुण एव जाणज्जा, उवक्कंते खलु हेमते, गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा, अदुवा सतरुतरे, अदुवा ओमचेलए, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले लाघविय आगममाणे, तवे से अभिसमण्णागए भवति। जहेय भगवता पवेदित तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव अभिजणिया" (४२२)

५—"से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहेसणिज्जाइ वत्थाइ जाएज्जा, अहापरिग्गहाइं वत्थाइं धारेज्जा, णो धोएज्जा, णो रंगेज्जा, णो धोय-रत्ताइ वत्थाइं धारेज्जा, अपलिउचमाणे गामतरेसु ओमचेलिए। एत खलु वत्थाधारिस्स सामग्गिय" (८३२)

६-तीहि ठाणेहि वत्थं धरेज्जा, तंजहा-हिरिपत्तित दुगुंछापत्तिय, परीसहत्तयं" (१७१)

७—"से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अबिकखेज्जा पायं एसित्तए। से ज पुण पायं जाणेज्जा, तंजहा अलाउपाय वा, दारुपायं वा, मट्टियापायं वा, तहप्पगारं पायं। जे निग्गथे तरुणे जाव थिरसंघयणे, से एगं पायं धारेज्जा, णो बीयं" (८४१)

१. पृष्ट ६४ से ६५ २ पृ० १८६ से १८७, ३ पृ० ८३, ४ पृ० ८१-७९-८० ५ पृ० १९१ ६ स्थानाग सूत्र समितिवाला पृ० १३७ ७ पृ० १९४ आचाराग सूत्र (रवजी भाई वाला मूल और भाषान्तर) ८ पृ० १३९ स्थानांग सूत्र (समितिवाला)

८—"कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा ततो ततो पायाइं धारित्तते वा, परिहरित्तते वा, तंजहालाउयपादे वा, दारुपादे वा, मट्टियापादे वा"।(१७०)

इस प्रकार श्वेताम्बरों के इन प्रामाणिक सूत्र ग्रन्थों में कहीं भी यह मालूम नहीं देता कि वस्त्र पात्र के ही लिये आग्रह किया गया हो, या उसके सिवा संयम हो ही नहीं समता, मुक्ति मिल ही नहीं सकती वा वस्त्र पात्र के बिना कल्याण ही नही होता, इस बात का आग्रह करने वाला कोई भी लेख नहीं मिलता। सूत्रों में साफ यह बतलाया गया है कि जो मुनि वस्त्र पात्र बिना भी निर्दोष संयम पाल सकता हो उसके लिये वस्त्र पात्र की कोई आवश्यकता नहीं है और जो साधु वस्त्र पात्र के बिना सयम पालने की शक्ति को प्राप्त न कर सका हो वह यदि वस्त्र पात्र-एक या दो वस्त्र और एकाध पात्र रक्खे तो भी कोई हरकत नही है। दोनो का ध्येय संयम है, त्याग और आत्मश्रेय है। वस्त्र पात्र रखने वाले को वस्त्र पात्र का गुलाम नहीं बनना और नग्न रहने वाले को नग्नता का गुलाम नही बनना चाहिये। तात्पर्य यह है कि किसी भी स्थिति का दास न बन कर और एकान्त दुराग्रह न करके जितनी आवश्यकताये कम हो सके वैसा प्रयत्न करना है। इसी प्रयत्क्षवाले मार्ग का अनुसरण श्रीवर्धमान ने किया था और यही आर्य ग्रन्थों मे उल्लिखित है, इसी मार्ग में त्याग और आत्मस्वातत्र्य है एवं घर गृहस्थी छोडने का सार भी इसी में समाया है।

जहा तक मैं समझता हू ऊपर कथन किये मुजब इस सम्बन्धो मे दिगम्बर ग्रन्थो के प्रमाण देने का विशेष अवकाश नही रहता, अर्थात् पूर्वोक्त प्रमाणिक और प्राचीन सूत्र ग्रन्थो के उल्लेख से इस विषय पर काफी प्रकाश पडचुका है, तथापि एकान्त नग्नतावाद को माननेवाले दिगम्बर सप्रदायके ग्रन्थों पर भी दृष्टिपात कर लीजिये क्या इस बात का बुद्धि स्वीकार कर सकती है कि उन ग्रन्थो मे यह लिखा हो-मुनि बीमार पडा हो, चाहे मरता ही क्यो न हो तथापि उसे कपडे के चैथडे तक को हाथ न लगाना चाहिये? वह रूग्णावस्था में बिस्तर पर ही भले टट्टी पिसाब करता हो? तथापि वह एक मट्टीके ठीकरे तकको स्पर्श न करे? उग्र संयम के पोषक दिगम्बर ग्रन्थों ने भी जिस तरह मुनियों को खाने पीने की छूट दी है वैसे ही मात्र संयम के लिये वस्त्र पात्र की भी छूट देनी उचित है। यदि उन ग्रन्थो मे सयम के निमित्त इस प्रकार का विधान सर्वथा न हो तो मैं समझता हू कि वह उनके रचयिताकी त्रुटि है। अभ्यासी एव तदिच्छुक मनुष्यो के लिये ऐसी कोई स्थिति क्वचित ही होगी, जिसमें एकाध छूट रक्खे बिना उनका निर्वाह हो सके। जहां तक बने वहा तक समताको कायम रखते हुए गमन करना यह तो सही है परन्तु जब

उस समताके ही गुम होने की नौबत आवे उस वक्त मात्र उसे स्थिर रखने के

अर्थात् अहिसारूप महा उद्यानकी रक्षा करने वाले को उसके चारों ओर पांच बाडे करनी हैं, ओर वे इस प्रकार हैं- वाणीका सयम, मनका सयम, किसी वस्तु को उठाते रखते-याने उपकरणो को उठाते और रखते समय सावधानता और आलोकित खान-पान मे सावध' नता रखना। इस उल्लेख में खान पान की सावधानता को जुदा लिखा है, इससे आदान निक्षेपणमे उसका सम्बन्ध प्रतीत नही होता, इस कारण चौथी बाडका सम्बन्ध निर्ग्रन्थों के लिये औषधिके समान वस्त्र पात्र रखने की मनाई किसी भी आचार साहित्य में संभवित नही होती। दिगम्बरो के राजवार्तिक और ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थो में आदान समिति और पारिष्ठापनिका समिति के नाम देखने मे आते है। एव उन पर विवेचन भी किया गया है, अत' वस्त्र पात्र के सम्बन्ध मे दिगम्बरो की मान्यता के बारे मे मैंने जो उपरोक्त कल्पना की है उसे विशेष पुष्टी मिलती है। राजवार्तिक मे २७१ पृष्ठ पर इस विषय मे इस प्रकार उल्लेख मिलता है।-

"वाङमनोगुप्ति-इर्या-आदान निक्षेपण समिति आलोकित पान भोजनानि पच" ।।८।।

उपकरणो के साथ (वस्त्र पात्रादिके साथ सगत और उचित मालूम देता है ज्ञानार्णवमे १९० वे पृ० पर इसी विषय को इस प्रकार बतलाया है-

"शय्याऽऽसनो-पधानानि शास्त्रोपकरणानि च। पूर्व सम्यक् समालोच्य प्रति लिख्य पुन पुन ।।१२।। गृह्वतोऽस्य प्रयत्नेन क्षिपतो वा धरातले। भवत्यविकला साधोरादान समिति स्फुटम्" ।।१२।।

अर्थात् शय्या आसन, तकिया, शास्त्र की हिफाजत करने वाले उपकरण, इन सबको अच्छी तरह देख भाल कर-जमीन को साफ देखकर रखते हुये और उठाते हुए साधु आदान समिति को अविकलतया पाल सकता है, इसी प्रकरण मे व्युत्सर्ग समिति-निक्षेपणासमिति का भी उल्लेख है। उपरोक्त ज्ञानार्णवका उपकरणो से लगता हुवा उल्लेख शास्त्रोपकरणो का भी निर्देश करता है, तब फिर शारीरिक उपकरणो-सिर्फ औषधिवत् उपयोग में आने वाले वस्त्र पात्र का एकान्तिक निषेध किस तरह किया जाय? वर्धमान के नामसे चलनेवाले प्रवचन में, उसमे निर्दोष ब्राह्य सामग्री में किसी भी जगह एकान्तता का सम्भव नही होता, क्योंकि इस प्रवचन का नाम ही अनेकान्त दर्शन है। तथापि यदि वर्धमान के नाम से प्रचलित बही खाते में उनके मुनीमने इस तरह की ब्राह्म सामग्री में भी कही पर एकान्तता का अंक संमिश्रित कर दिया हो तो मैं कम से कम यह मानने के लिये तैयार नहीं हूं कि उस बही खाते का वहिवट वर्धमानानुगामी है। चाहे वह श्वेताम्बरों का हो या दिगम्बरों का।

इससे पाठक स्वयं समझ सकेंगे कि श्वेताम्बरता और दिगम्बरता की दीवार केवल आग्रह की नीव पर ही चिनी गई है। वस्त्र पात्र के लिये दोनों संप्रदाय के प्राचीन ग्रन्थों का एकसा ही अभिप्राय है, तथापि वर्तमान में इस विषय में दोनों संप्रदायों मे जो भीषण मतभेद देख पड़ता है उसका मूल कारण, दोनों संप्रदाय के पूर्व धर्मगुरूओ और आज कल के कुलगुरूओं का दुराग्रह, स्वाच्छन्द्य, शैथिल्य और मुमुक्षुता का अभाव इत्यादि के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। किसी एक ऐसे विद्वान को जिसे श्वेताम्बर और दिगम्बरता की अभी तक बू भी न लगी हो दोनो संप्रदाय के प्राचीन ग्रन्थों में बतलाये हुये आचार विभाग का अध्ययन करने का कार्य सोपा जाय तो वह उनका अध्ययन करने पर इस बात का निर्णय करने की उलझन में पड जायगा कि इनमें कौन-सा श्वेताम्बर और कौन-सा दिगम्बर ग्रन्थ है, इतनी साम्यता है। क्या कोई साधारण बुद्धि वाला मनुष्य यह बतला सकता है कि जो क्रीश्चियन छुरी कांटे से खाते हैं और जो क्रीश्चियन हाथ से खाते हैं वे दोनों जुदे जुदे धर्म वाले हैं, या एक हस्तभोजी मतका क्रीश्चियन और दूसरा छुरीकांटा मत का क्रीश्चियन है। यदि ये दोनों त्रीश्चियन जुदे जुदे हो सकते है तब ही श्वेताम्बर और दिगम्बर जुदे जुदे हो सकते हैं। अन्यथा उनकी जुदाई तो दूर रही परन्तु उनके श्वेताम्बर और दिगम्बर नाम तक भी सभवित नहीं होते

अब हमे श्वेताम्बरता और दिगम्बरता की जडकी ओर दृष्टि फेरनी चाहिये कि जिसका अबसे २०००-२२०० वर्ष पहले अकूर फूटा था और तभी से उस पर आग्रह का जल डाल डाल कर उसे पुष्ट एवं सुदृढ़ किया गया है। यह बात तो हम सुनते ही हैं कि श्री वर्धमान के समय भगवान पार्श्वनाथ साधु भी थे, जिन्हें कि ऋजु प्राज्ञ मानते हैं। जहा तक मैं समझता हूं सभ्य संसार में यह असंभवित है कि जो विवेकी और सरल हो वह जड और वक्रकी अपेक्षा अधिक आराम तलब हो या आराम तलबी की विशेष छूट ले। मेरी मान्यता के अनुसार जड और वक्र मनुष्यों की अपेक्षा ऋजु और प्राज्ञ पुरूषों पर विशेष जवाबदारी रहती है। जिस तरह का आचरण वे करेगे वैसे ही आचरण की तरफ वक्र और जड बुद्धि वाले, मनुष्यो की प्रवृत्ति को तो यह बचाव करने की छूट है कि जैसा विवेकी आचरण करे वैसा ही करना हमारे लिये भी हितकर है। ऐसा होने के कारण विवेकी और सरल मनुष्यों को अपना आचार ऐसा सुदृढ़ एवं अपवाद रहित रखना चाहिये कि जिससे उनके पीछे चलनेवाला वर्ग भी सुदृढ़ और निरपवादि आचारो को पाल सके। इस तरह की वस्तुस्थिति होने पर भी हमारे सुनने में आता है कि ऋजु और प्राज्ञ साधुओं की अपेक्षा वक्र और जड साधुओं का आचार विशेष कठिन एव

दुस्सह किया गया है। ऋजु प्राज्ञ साधु पच रंगी वस्त्र, रेशमी वा बहुमूल्यवान वस्त्र भी पहन सकते है और वक्र जड साधुओं को शक्यतानुसार अचेलक (वस्त्र रहित, एक वस्त्री या दो वस्त्री, वह वस्त्र भी पुराना, मैला, फटा टूटा और गृहस्थी द्वारा वर्ता हुआ, जैसा मिले वैसा ही सुधारे बिना कारण पड़ने पर ही उपयोग में लेना चाहिये) ही रहना चाहिये। किसी एक साधु समुदायको उद्देश कर बनाया हुआ खान-पान ऋजु प्राज्ञ साधु गहण कर सकते हैंऔर वही खान पान व्यक्ति की दृष्टि से भी वक्र जड़ साधुओं के लिये दूषित गिना जाय, ऋजु प्राज्ञ मुनि राज पिंड भी ग्रहण कर सकते है, परन्तु वक्र जडों से वह सर्वथा नहीं लिया जा सकता। ऋजु प्राज्ञ प्रतिक्रमण की क्रिया अपनी इच्छानुसार कर सकते है, परन्तु वक्र करनी चाहिये। ऋजु प्राज्ञ शय्यातर गृहस्थ के घर का आहार पानी वगैरह ग्रहण कर सकते हैं परन्तु वक्रजड़ मुनि नहीं ले सकते। विहार, जेष्ठ कनिष्ठकी व्यबस्था और बन्दनादि व्यवहार के लिये ऋजुप्राज्ञ निरकुश रह और उन्हीं कार्यों के लिये ब्रक्रजडों को गुरू की परतत्रतामे रहना पडे, यह बात विचार करने लायक है। इनमे से निरकुश आचार भगवान पार्श्वनाथ के ऋजु प्राज्ञ साधुओ का है और सांकुश आचार भगवान वर्धमान का है और सांकुश आचार भगवान वर्धमान के मुनियो का है। यहा पर यह बात मैं पाठकों पर ही छोडता हूं वे स्वयं विचार करें कि उपरोक्त आचारों में किसमें विशेष कठिनता देख पड़ती है और कौन-सा आचार विशेष मर्यादित मालूम होता है? यदि त्याग का अर्थ अपनी आवश्यकताये कम करने का हो यदि त्याग का अर्थ निरंकुशताको रोकना होता हो, सहन करना हो और यदि त्याग का अर्थ मर्यादित-जीवन बिताना हो तो हर एक मनुष्य निःसकोच यह स्वीकार किये बिना न रहेगा कि श्रीवर्धमान के ही आचारों मे त्याग, साधुता, मर्यादितपन, सहनशीलता, साकुशता और पूर्ण वैराग्य भरा है। तथा ऋजुप्राज्ञ पुरूषो के आचारो में अनुकूलता आराम यथेच्छवर्तिता और अमर्यादा झलक रही है। कदाचित् पार्श्वनाथ भगवान की विद्यमानता मे उनके शिष्यो में इस प्रकार का सुखशील वर्तन न भी हो, परन्तु उनके निर्वाण बाद-श्रीपार्श्वनाथ और श्रीवर्धमान के शिष्यो के २५० वर्ष के दरम्यान किसी भी समय पार्श्वनाथ के सन्तानीयो पर उस समय के आचारहीन ब्राह्मण गुरूओ का असर पड़ा हो और इसी कारण उन्होने अपने आचारों मे से कठिनता निकाल कर विशेष नरम और सुकर आचार बना दिये हों यह विशेष सभवित है।

मान लिया जाय कि हमारा कोई पड़ौसी अच्छी तरह नहाता धोता हो, इच्छानुसार वस्त्र पहनता हो और ऐसी रीति भांति रखते हुये भी वह साधु या धर्मगरू की हैसियत से प्रतिष्ठा या पज्यता प्राप्त कर सकता हो तो मैं नहीं

मानता क़ि उसका दूसरा त्यागी पड़ौसी उसके आचारण का अनुसरल करने मे जरा भी बिलम्ब करेगा। कठिन आचारो को पालन करने में, लज्जा को जीतने मे, शरीर को वश रखने मे और इसी तरह की अन्य भी त्याग की अनेक बातो मे मनुष्य स्वभावसे ही शिथिल देख पडता है। इसी कारण वह अपनी अनुकूलता के अनुसार आचारो नियमो एव क्रियाओ को पालन करते हुये यदि धर्मचरण कर सकता हो तो वैसे सुकर नियमो की ओर वह झट झुक जाता है और जहा भूखा रहने को कहा जाता हो वस्त्र रहित होकर आचार पाला जाता हो तथा जहा पर शरीर के प्रत्येक सुभीते का निरोध किया जाता हो उस तरफ कोई विरला ही मुश्किलसे झुकता है। अगसूत्र ग्रन्थो मे जहा तक मैं देख सका हू श्रीवर्धमान जैसे समर्थ योगी पुरूष के समक्ष भी नम्र होने मे श्रीपार्श्वनाथ के सन्तानीय हिचकिचाये हैं। उन्होने श्रीवर्धमान की परीक्षा-मात्र कोरी वचन पराक्षा लेने के लिये कितने एक पश्न पूछे हैं और जब उनसे उनका समाधान हो गया एव उसमे भगवान पार्श्वनाथ के सिद्धान्त की साक्षी मिली तब ही उन्होने श्रीवर्धमान को मस्तक झकाया है। सूत्रो मे जहा जहा पर श्रीवर्धमान और उनके निर्ग्रन्थो के समागम होने का वर्णन आता है वहा पर सब जगह निर्ग्रन्थो ने उन्हे प्रदक्षिणा देकर वन्दन करके अपने वक्तव्य या प्रष्टयका प्रारभ किया है, इस तरह की सकलना प्राप्त होती है, इतना ही नही बल्कि स्कदक जैसे अन्य मतावलम्बी तापस ने भी वर्धमान को मिलते समय जैन निर्ग्रन्थों के योग्य उनका सत्कार किया है, यह उल्लेख भी भगवती सूत्र के दूसरे शतक मे विद्यमान है। परन्तु जहाँ पर पार्श्वनाथ के सन्तानीय मुनियो का वर्णन आता है वहाँ सर्वत्र उन्होने वर्धमान वा उनके स्थविरो को मिलते ही तुरन्त साधारण सत्कार करने तक का भी विवेक प्रगट किया हो ऐसा उल्लेख नही मिलता। परन्तु उन्होने वर्धमान या उनके मुनियो के पास जाकर उनके साथ बातचीत करके, उन्हे पहचानने के बाद वन्दनादि करने और उनका धर्म स्वीकृत करने का उल्लेख मिलता है। सूत्रो मे ऐसे अनेक उल्लेख विद्यमान हैं। उनमे से एक दो उल्लेख की ओर मैं पाठको का ध्यान खीचता हूँ— भगवती सूत्र के नवमे शतक के बत्तीसवे उद्देशक मे एक गागेय नामक पार्श्वनाथ सन्तानीय की कथा आता है, उसमे इस प्रकार बतलाया गया है कि १ "एक वर्धमान वाणिज्य ग्राम के दूतिपलाश नामक चैत्य मे पधारे थे, वहाँ पर उनका उपदेश सुनने के लिये वहाँ का समाज एकत्रित हुआ था और उस सदुपदेश को सुनकर वह लोक समूह वापिस अपने अपने स्थान पर चला गया था। उस ग्राम मे वर्धमान को गागेय नामक पार्श्वनाथ अणगार मिले थे, वे वर्धमान के पास गये थे और उनके नजदीक बैठ कर उन्होने वर्धमान को कितनेक प्रश्न पूछे थे। अपने

पूछे हुये प्रश्नों के उत्तर मिले तब से ही उस पार्श्वापत्य गांगेय अणगार ने वर्धमान को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के तौर पर पहचाने थे। फिर उन्हें बन्दनादि करके उसने अपना चातुर्याम धर्म छोड़ कर वक्र जडो का पंचयाम मार्ग स्वीकृत कर अपना श्रेय सिद्ध किया था।"

इसी ऋजु प्राज्ञ गांगयने वर्धमान की परीक्षा ली थी और इस निमित्त उसने उन्हें अनेक परोक्ष प्रश्न भी पूछे थे। इसी प्रकार दूसरे * कालास्यवेशिक पार्श्वापत्य ने वर्धमान के स्थबिरो के साथ समागम होते समय किंसी भी प्रकार का साधारण विनय सत्कार तक नही किया, परन्तु उस समागम के परिणाम मे उसे वक्रजडो के समुदाय मे मिलना पडा था। यह कैसी ऋजु प्राज्ञता और वक्रजडतों है? इन दोनों पार्श्वापत्यों के साथ सम्बन्ध रखने वाला जो उल्लेख मिलता है उसमें से उपयुक्त भाग में नीचे नोट में दिये देता हूँ, इस विषय को सविस्तर जानने की इच्छा रखने वाले पाठकों को वे दोनों प्रकरण देख लेने चाहिये। ऋजु और प्राज्ञ पुरूषो का एक ऐसा स्वाभाविक नियम है कि वे कही भी आग्रही नही होते, गुण के प्रेमी होते हैं। बल्कि **'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिगं न च वयः**, ऐसी उक्तियों को वे ही चरितार्थ करते हैं। वे ऐसे नम्र होते है कि सर्वथा अनजान किन्तु गुणी वा तपस्वी मनुष्य को मिलते ही उचित सन्मान करना नही चूकते। अब हमे यह

१ "तेण कालेण, तेण समएण वाणियगामे णाम णयरे होत्था, वण्णाओं, दुइपलासे चेइए, सामी सभोसढे, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगवा, तेण कालेण, तेण समएण पासावच्चिज्जा गागेये णाम अणगारे जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामते ठिच्चा समण भगव महावीर एव वयासी "

"तप्पभिइ च ण से (पासावच्चिजे) गगेये अणगारे समण भगव महावीर पच्चभिजाणइ-सव्वण्णू सव्वदरिसी। तएण से गगेये अणगारे समण भगव महावीर तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिण करेइ, वदइ, णमसइ, वदित्ता, णमंसित्ता एव वयासी-इच्छामि ण भते!! तुब्भे आतेए चउज्जामाओ धम्माओ पचमहव्वइय, एव जहा कालासवेसियपुत्ते अणगारे तहेव भाणियव्व जाव० सव्वदुक्खप्पहीणे।"

— (भगवती० अजीम० पृ० ७३८-७३९-७८७)

"तेण कालेण तेण समएणं पासावच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे जेणेव थेरा भगवतो तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता थेरे भगवते एव वयासी '—

(भग० वा० पृ० १३१)

समीक्षण करना चाहिये कि उन ऋजु प्राज्ञों की यह स्थिति कहाँ? और हमारे ऋजु प्राज्ञों की वर्धमान जैसे दीर्घ तपस्वी की परीक्षा लेने वाली वह भी अनम्रवृति कहाँ? इस हेतु से एव ऐसे ही अन्य भी अनेक प्रमाणों से मैं यह निर्णय कर सकता हूँ कि वर्धमान के समय पार्श्वनाथ जी की प्रजा सुखशील हो गई थी और वह भी यहाँ तक कि वर्धमान जैसे महापुरूष को पहचान सकने जितनी भी स्थिति न रही थी। भगवती सूत्र मे उसको सकलित करने वाले ने एक जगह पार्श्वापत्यीय कालास्यवेशी अणगार के मुख से वर्धमान के निर्ग्रन्थों की सामायिक के सम्बन्ध मे चर्चा कराई है। उस चर्चा के अन्त में वह पार्श्वापत्यीय साधु इस बात को स्वीकार करता है कि – "हे निर्ग्रन्थों ! जैसा तुमने सामायिक का स्वरूप बतलाया है ऐसा मैंने नही सुना, एवं वैसा मुझसे किसी ने नही कहा" इत्यादि यह विषय भगवती सूत्र में इस प्रकार लिखा है–

* इस समय पार्श्वापत्य कालस्यवेशिक पुत्र अणगार बुद्ध हुवा-बोध को प्राप्त हुवा, अर्थात् सामायिकादि के स्वरूप का जानकार हुआ और उसने वर्धमान के वक्रजड़ स्थविरों को वन्दन, नमन करके इस प्रकार कहा – कि हे भगवन्तो! तुमने जो पद कहे हैं इन्हे पूर्व में न जानने से, पहले न सुनने से, इसके साथ सम्बन्ध रखने वाला बोधि लाभ न प्राप्त होने से या मुझमें स्वय विचार करने की बुद्धि न होने से, इस विषय का व्योरेवार बोध न रहने से, उन पदो को मैंने स्वय नही देखा था और, न सुना था इससे वे पद मेरी स्मृति मे न आने के कारण उन्हे विशिष्टतया न जान सकने से, गुरू ने उन्हे विशेषता पूर्वक न कथन करने से, वे पद विपक्ष से अपृथग् भूत होने से, गुरू ने उन्हें बडे ग्रन्थो से संक्षेप में उध्धृत न किया होने से और इसी हेतु वे पद अनवधारित रहने से आपसे कथन किये गये इस अर्थ को मैंने न सद्दहा था। परन्तु हे भगवन्तो! अब मैंने आपसे इन पदों को जाना है, इससे मुझे आपके कथन किये अर्थ मे श्रद्धा, विश्वास और रूचि हुई है एव आप जो कहते है वह उसी प्रकार है।

"एत्थणं (पासावच्चिज्जे) कालासवेसयपुत्ते अणगारे सबुद्धे थेरे भगवंते वदइ, णमसइ; वंदिता, णमंसित्ता एव वयासी-एएसि ण भते! पयाण पुव्वि अण्णाण्याए, असवणयाए, अबोहियाए, अणभिगमेण, अदिट्ठाण, अस्सुयाण, असुयाण, अविण्णायाण अव्वोगडाणं, अव्वोच्छिण्णाण, अणिज्जूढाण, अणुवधारियाण, एयमट्ठ णो सद्दहिए णो पत्तिइए, णो रोइए, इयाणि भंते! एएसि ण जाणणाए, सवणयाए, बोहियाए, पयाणं अभिगमेण, दिट्ठाण सुयाण विण्णायाणं वोगडाणं वोच्छिण्णाण णिज्जूढाण उवधारियाण एयमट्ठं सद्दहामि, पत्तियामि, रोएमि, एवमेय से जहेयं तुब्भे वयह। तए ण ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत अणगार एव वयासी-सद्दहाहि अज्जो! पत्तियाहि अज्जो! रोएहि अज्जो! से जहेयं अम्हे वयामो। तए ण

इस प्रकार एक ऋजु प्राज्ञ संप्रदाय के मुनि की वाणी सुनकर वर्धमान के वक्रजड़ स्थविरों ने उसे कहा कि हे आर्य ! हम जो कहते हैं उसमें श्रद्धा करो, विश्वास करो और रूचि रक्खो। इसके बाद उस ऋजुप्राज्ञ कालास्यवेशिक मुनि ने स्थविरों से कहा कि हे भगवन्तो ! मेरी ऐसी वृत्ति है कि अपना चतुर्याम धर्म छोडकर आपके प्रतिक्रमण सहित पंचयाम धर्म को अंगीकार करके विचरूँ। इसके उत्तर में स्थविरों ने विशेष कोमलता पूर्वक कहा कि हे देवप्रिय ! जैसे सुख पैदा हो वैसे करो और वैसा करने में विलम्ब न करो। (भगवती सूत्र अजीम० पृ० १३४-१३५)।

इस उल्लेख में वर्धमान के वक्रजड शिष्यों से ऋजुप्राज्ञ पार्श्वापत्य ने सर्वथा न जाना हुवा जाना, न सुना हुआ सुना और वैसा करके उसने अपना पूर्वापर से चला आता चातुर्याम मार्ग छोड़ और वक्रजड़ों का सप्रतिक्रमण पचयाम मार्ग स्वीकार कर अपना कल्याण सिद्ध किया। यह बात भी मेरी पूर्वोक्त कल्पना को पुष्ट करती मालूम देती है। इसके उपरान्त मार्ग बदलने के सम्बन्ध मे वर्तमान अगग्रन्थों में पार्श्वापत्यों से लगते हुये अन्य भी ऐसे अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जो मेरी मान्यता का समर्थन करते है। इस विषय मे मैं पार्श्वनाथ और वर्धमान, नामक एक सविस्तर निबन्ध लिखना चाहता हूँ। अतएव यहाँ पर इस विषय का विस्तार करके प्रस्तुत निबन्ध का कलेवर बढ़ाना व्यर्थ है। अस्तु ऊपर बतलाई हुई मेरी तमाम दलीलें इस बात को स्पष्टतया सूचित करती हैं कि वर्धमान के समय में पार्श्वनाथ की बाडी कुमला गई थी, वह उत्तम त्याग के जल से सिंचित न होती थी, किन्तु उसे सुखशीलता का किंपाक के रस जैसा आपातमधुर पानी मिलता रहता था। पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि मैं श्वेताम्बरता और दिगम्बता के मूल की शोध कर रहा हूँ। मुझे अपने यथामतिजन्य मनन के बाद पार्श्वापत्यों की सुखशीलता मे ही उसका मूल समाया हुआ मालूम देता है। वर्धमान के आसमास के पार्श्वनाथ के सन्तानीयो की सुखशीलता में मुझे कुछ भी मीनमेख मालूम नहीं देती, एव उनकी ऋजुता और सरलता प्राज्ञता में भी मेरा कोई मतभेद नहीं है। इसमें मेरा मतभेद सिर्फ इतना ही है कि वे कोई अपने सुखशील आचारो के कारण ऋजुप्राज्ञ न थे, परन्तु जब उन्हें वर्धमान की ओर से या उनके निर्ग्रन्थों की तरफ से कुछ समझाया जाता तब वे उस

कलासवेसियपुत्ते अणगारे, थेरे भयवते वदइ, नमसइ वंदिता, णमंसित्ता एव वयासी-इच्छामि णं भंते! तुब्भे अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पचमहव्वइय सपडिक्कमण धम्म उवसपज्जित्ता णं विहरित्तए। अहासुह देवाणुप्पिया! मा पडिबध करेह" इत्यादि।

(भगवती सूत्र, अजीम, पृ० १३४-१३५)

विषय को शीघ्र समझ लेते थे और शीघ्र अंगीकार करके अपने आचरण मे घटित परिवर्तन कर लेते थे। प्रारभ में भले ही अपनी स्वीकृत सुखशीलता की चुस्तता के कारण या अन्य किसी कारण उन्होने वर्धमान या उनके स्थविरो के साथ भिन्न धर्मों के समान वर्ताव किया हो, परन्तु जब वे परस्पर विशेष समागम में आये तब समागम मे आने वाले प्रत्येक पार्श्वनाथ सन्तानीय ने वर्धमन का कठिन मार्ग अंगीकार किया है। यह बात सूत्रों मे उल्लिखित पार्श्वापत्यो के प्रत्येक उल्लेख के अन्त मे बडे सरल और निखालस शब्दो मे आज भी स्पष्टरूप से झलक रही है, ये शब्द ही पार्श्वापत्यों की ऋजुता और प्राज्ञता की साधना के लिये पर्याप्त है। परन्तु उनके दोनो गुणो का सुखशील आचारो के साथ कुछ भी सम्बन्ध हो यह बात मुझे भासित नही होती। पार्श्वनाथ के बाद दीर्घतपस्वी वर्धमान हुये, उन्होंने अपना आचरण इतना कठिन और दुस्सह रक्खा कि जहाँ तक मेरा ख्याल है इस तरह का कठिन आचरण अन्य किसी भी धर्माचार्य ने आचरित किया हो ऐसा उल्लेख आज तक के इतिहास मे नही मिलता।

जिस प्रकार परदेशियों की, परदेशी पदार्थो की और परदेशी रीतिरिवाजो की गुलामी मे जकडी हुई वर्तमान भारतीय प्रजा को जहाँ तक बन सके सादगी की आवश्यकता है, बन सके उतना स्वदेशीमय बनने की जरूरत है और शक्य प्रमाण मे अपनी आवश्यकताओ को कम करके सुखशीलता को छोड आदर्श पुरूष परम त्यागमूर्ति महात्मा गाधी के मार्ग पर चलने की जरूरत है, इसी प्रकार आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले धर्मगुरूओं में घुसे हुये विलास को दूर करने के लिये और धर्मगुरूओ की ओर से प्रजा पर पडे हुये भार को हलका करने की खातिर आदर्श मे आदर्श त्याग, आत्मभाव और परम सत्य के सदेश की आवश्यकता थी। इसी कारण वर्धमान ने अपनी भरजवानी मे ही सयमी होकर अपने आचरण को इतना कठिन कसा था कि जिस कठिनता की कल्पना को भी आधुनिक मनुष्य नही पहुँच सकता। इसी कठिनाई के प्रभाव से उस समय के धर्मगुरूओ मे पुन त्याग का संचार हुआ और इससे वे निर्ग्रन्थ के नाम को शोभायमान करने लगे। उस वक्त जो नये निर्ग्रन्थ बनते थे शक्यतानुसार वर्धमान का ही अनुसरण करते थे। इस प्रकार एक दफा पुनरपि भारत मे त्याग का धर्म पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था।

ज्यो गाडी का पहिया फिरा करता है, प्रकाशके बाद अन्धकार आया करता है, आताप के बाद छाया आती है त्यो भारतवर्ष मे उस समय की झलकती हुई त्याग की ज्योति अमावस्या की कालरात्रि के तिमिर मे विलीन

हो गई थी, बुझ गई थी और पीछे फिर भी भावी तिमिर संचरण की सध्या ने अपना रग प्रकाशित किया था। हतं सैन्यमनायक' यह उक्ति भारतीय प्रजा को सदा से लागू पडती आ रही है। सेना पूर्णजोष में लड़ रही हो और विजय प्राप्ति में मात्र दस पाच ही मिनट बाकी हों, ऐसे समय यदि सेनापति के गिर जाने की खबर सुनने में आवे तो भारत की सेना तितर बितर हो कर कौरवों के समान चारों दिशाओं में भाग जाती है और अपने क्षत्रीयपन को लांछित करती है। यथार्थ यही रीति भारत के धर्मक्षेत्र मे या अन्य समस्त व्यवहारों में अभी तक समान रूप से लागू पड़ी है। वर्धमान का निर्वाण होने से परम त्यागमार्ग के चक्रवर्ती का तिरोधान हो गया और ऐसा होने से उनके त्याग निर्ग्रन्थ निर्नायक से हो गये। तथापि मैं मानता हूँ कि श्रीवर्धमान के प्रताप से उनके बाद की दो पीढियो तक श्री वर्धमान का वह कठिन त्यागमार्ग ठीक रूप से चलता रहा था। यद्यपि जिन सुखशीलियो ने उस त्यागमार्ग को स्वीकारा था उनके लियेकुछ छूट रक्खी गई थी और उन्हे ऋजु प्राज्ञ के मबोंधन मे प्रसन्न रक्खा गया था, तथापि मेरी धारण मुजब व उस कठिनता कोसहन करने मे असमर्थ निकले थे, और श्रीवर्धमान सुधर्मा तथा जबू जैसे समर्थ त्यागी की छाया मे वे ऐसे दब गये थे कि किसी भी प्रकार की चींपटाक किये बिना यथा तथा थोडी सी छूट लेकर भी वर्धमान के मार्ग का अनुसरण करते थे। परन्तु इस ममय वर्धमान, सुधर्मा या जबू कोई भी प्रतापी पुरूष विद्यमान न होने से उन्होने शीघ्र ही यह कह डाला कि जिनेश्वर का आचार जिनेश्वर के निर्वाण के साथ ही निर्वाण को प्राप्त हो गया है। जिनके जैसा सयम पालन करने के लिये आवश्यक शारीरिक बल या मनोबल आजकल नही रहा, एव उच्च कोटि का आत्म विकाश और पराकाष्ठा का त्यागमार्ग भी आज लोप हो गया है। अत अब तो वर्धमान के समय मे जो छूट ली जाती थी उनमे भी सयम के सुभीते के लिये (?) वद्धि करने की आवश्यकता मालूम देती है। मेरी मान्यतानुसार इस सक्राति काल मे ही श्वेताम्बरता और दिगम्बरता का बीजारोपण हुआ है.और जबू स्वामी के निर्वाण बाद इसका खूब पोषण होता रहा हो यह विशेष सभवित है। यह हकीकत मेरी निरी कल्पना मात्र नही है, किन्तु वर्तमान ग्रन्थ भी इसे प्रमाणित करने के सबल प्रमाण दे रहे हैं। विद्यमान सूत्र ग्रन्थो एव कितनेक अन्य ग्रन्थो मे प्रसगोपात यही बतलाया गया है कि–

* "मण-परमोहि-पुलाए आहारग-खवग उवसमे कप्पे। संजमतिय केवलि-सिज्झणा य जबुम्मि वुच्छिण्णा" ।।२५९३।।

अर्थात जबूस्वामी के निर्वाण के बाद निम्नलिखित दस बाते विच्छेद हो गई है। १ मनपर्यवज्ञान, २ परमावधि ज्ञान, ३ पुलाकलब्धि, ४ आहारक शरीर, ५ क्षपकश्रेणी, ६ उपशम श्रेणी, ७ जिनकल्प, ८ संयमत्रिक (यथाख्यात संयम, परिहार-विशुद्धिक सयम और सूक्ष्म सपराय संयम) "केवल ज्ञान और १० वाँ सिद्धि गमन"। इससे यह बात स्पष्ट मालूम हो जाती है कि जबस्वामी के बाद जिनकल्प का लोप हुआ बतला कर अबसे जिनकल्प की आचरणा को बन्द करना और उस प्रकार आचरण करने वालो का उत्साह या वैराग्य भंग करना, इसके सिवा इस उल्लेख मे अन्य कोई उद्देश मुझे मालूम नही देता। मैं सिर्फ जिनकल्प लोप होने का ग्रन्थपाठ बतला सकता हूँ, परन्तु वह पाठ कब का है? और किस का रचा हुआ है? इस विषय मे कुछ नही कह सकता। तथापि इस पाठ को देवर्धिगणी के समय तक का मनने मे कोई सदेह मालूम नही देता, अर्थात् इस पाठ का आशय परम्परा से चला आता हो और इसी से सूत्र ग्रन्थो मे भी इसे श्रीदेवर्धिगणी जी ने समाविष्ट कर दिया हो तो यह सभवित है। जबूस्वामी के निर्वाण बाद जो जिनकल्प विच्छेद होने का वज्रलेप किया गया है और उसकी आचरणा करने वाले को जिनाज्ञा बाहर समझने की जो स्वार्थी एव एक तरफी दभी धमकी का ढिढोरा पीटा गया है, बस इसी मे श्वेताम्बरता और दिगम्बरता के विषवृक्ष की जड समाई हुई है। तथा इसके बीजारोपण का समय भी वही है जो जबूस्वामी के निर्वाण का समय है। इस गवषण के उपरान्त भी उसी समय मे इसके प्रारभ के और भी अनेक प्रमाण मिलते है। जिनमे से एक बौद्धग्रन्थों और दूसरा दिगम्बरो की पट्टावली मे मैंने स्वय अब लोकित किया है। बुद्ध धर्मानुसारी सूत्रपिटक, १ 'मज्झिमनिकाय' नाम ग्रन्थो मे से एक इस

* विशेषावश्यक भाष्य (य०ग्र०पृ० १०३५) विशेषावश्यक के इस उल्लेख को भाष्यकार श्री जिनभद्रसूरि ने जिनवचन याने तीर्थंकर का वचन बतलाया है और टीकाकार श्री मल्लधारी हेमचद्र जी ने भी मक्खी पर मक्खी मारने के समान उसी बात को दृढ की है। बलिहारी है श्रद्धान्धता की? गाथा मे लिखा है कि जबू के समय ये दस बाते विच्छेद हो गई, इस प्रकार का, उल्लेख, तो वही कर सकता है कि जो जबूस्वामी के बाद हुआ हो। यह बात मैं विचारक पाठको से पूछता हूँ कि जबूस्वामी केबाद कौन सा २५ वाँ तीर्थ कर हुवा है कि जिसका वचनरूप यह उल्लेख माना जाय? यह एक ही नही किन्तु ऐसे सख्याबद्धा उल्लेख हमारे कुल गुरूओ ने पवित्र तीर्थंकरो के नाम पर चढ़ा दिये है। जिससे हम विवेक पूर्वक कुछ भी नही विचार सकते। क्या यह कुछ कम तमस्तरण है?

१—"एव मे सुत-एक समय भगवा सक्केसु विहरति सामगामे तेन खो पन समयेन निगठो नातपुत्तो +++ होति, तस्स भिन्ना निगठा द्वेधिकजाता, भण्डनजाता, कलहजाता, विवादापन्न अञ्ञमञ्ञ मुखमत्तीति वितुदता विहरंति" अर्थात् मैंने ऐसा सुना है कि एक समय भगवान बुद्ध शाक्य देश मे श्याम ग्राम मे विचरते थे, उस समय ज्ञात पुत्र भी थे। ज्ञात पुत्र के निर्ग्रन्थों मे कलह हुआ था। वे जुदे होकर परस्पर बकवाद करते विचरते थे,

विषय का उल्लेख मिलता है कि "ज्ञातपुत्र (वर्धमान) के निर्ग्रन्थों मे मतभेद हुआ था।" उपरोक्त जिनकल्प विच्छिन्न होने का जो उल्लेख किया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि जम्बूस्वामी के पीछे अर्थात वर्धमान के निर्वाण बाद ६४ वे वर्ष मे उनके मुनियो मे दो दल हो गये थे। जिनमे से एक नरम दल यह कहता था कि अब जिनकल्प विच्छेद हो गया है। इसलिये हम उसका आचरण कर ही नही सकते। दूसरा गरम दल जिनकल्प का पक्षपाती था और जिनकल्प के आचरण का हिमायती था। इन दोनो दलो के मतभेद का ही उल्लेख बौद्ध ग्रन्थो मे हुआ हो, ऐसा इस गाथा के "जंबुम्मि वुच्छिन्ना" पद पर से हम सरलता पूर्वक अनुमान कर सकते हैं। इस विषय को दिगम्बरो की पट्टावली भी पुष्ट करती है। श्वेताम्बरो और दिगम्बरों की पट्टावली मे श्री वर्धमान, सुधर्मा तथा जम्बूस्वामी तक के नाम समान रीति से और एक ही क्रम से उल्लिखित पाये जाते हैं, परन्तु उसके बाद के आने वाले नामो मे सर्वथा भिन्नता प्रतीत होती है और वह भी इतना विशेष भिन्नत्व है कि जम्बूस्वामी के बाद उनमे से एक भी नाम पूरे तौर पर नही मिलता। इस प्रकार जम्बूस्वामी के बाद ही ये पट्टावलिया जुदी २ गिनी जाने लगी। यदि इसका कोई कारण हो तो वह एक मात्र यही है कि जिस समय से सर्वथा जुदे २ पट्टधरो के नामो की योजना प्रारभ हुई—उस समय जम्बूस्वामी के निर्वाण बाद-वर्धमान के साधुओ मे भेद पड चुका था। वह पडा हुआ भेद धीरे २ द्वेष व विरोध के रूप मे परिणत होता रहा। उस समय जो स्वय मुमुक्षु पुरूष थे वे तो यथाशक्य उच्च त्यागाचरण सेवन करते थे, और जो पहले से ही सुखशीलता के गुलाम बन चुके थे, वे कुछ मर्यादित छूट रखकर पराकाष्ठा के त्याग की भावना रखते थे। अर्थात् जम्बूस्वामी के बाद भी उन मुमुक्षुओ मे से कई एक तो भगवान महावीर के कठिन त्याग मार्ग का ही अनुसरण करते थे और कई एक जिन्होने परिमित छूट ली थी, वे कदाचित् अथवा निरन्तर एकाध कटिवस्त्र रखते होगे, पात्र भी रखते होगे, तथा निरन्तर निर्जन वनों मे न रह कर कभी प बस्तियो मे भी रहते होगे। मुझे उस समय का कुछ प्रत्यक्ष ज्ञान नही है, तथा पिताश्री·हरिभद्रसूरि की आगे बतलाई हुई गाथा पर से और अपनी बुद्धि से इतनी तो कल्पना कर सकता हूँ कि मुमुक्षु पुरूष सयम निर्वाह के लिये इससे अधिक छूट ले, यह मैं मान नही सकता। उन मुमुक्षुओ मे जो मध्यम वर्ग था याने जो पूर्ण मुमुक्षु न था परन्तु आज कल के मुनियो के समान मताग्रही था वह किसी तरह अपनी विद्यमानता को यावत् चन्द्र दिवाकर स्थापित करना चाहता था, अर्थात् उनमे से एक पक्ष वस्त्रपात्रवाद मे ही मुक्ति की प्राप्ति देखता था और दूसरा पक्ष मात्र नग्नता मे ही मोक्ष मानता था। त्याग को आचार मे रखने की बात दूर रही परन्तु अपनी २

मान्यताओ को श्री महावीर के नाम पर चढ़ाने की धुन मे वे एक ऐसे समय की राह देखते थे कि जिसमे प्रगट रूप में विरोध किये बिना ही सदा के लिये सर्वथा जुदे हो जायँ।

वीर निर्वाण के बाद का यह समय देश की प्रजा के लिये बडा ही भीषण था। मगध देश में जहाँ वर्धमान का साम्रज्य था दुर्भिक्ष के बादल छा गये। वीर निर्वाण को अभी पूरे दो सौ वर्ष भी न बीतने पाये थे कि देश मे भयकर दुर्भिक्ष शुरू हो गया। बडी कठिनाइयो का सामना करके देश यथा तथा उस दुर्भिक्ष को पार कर कुछ ठीक स्थिति मे आ रहा था कि इतने ही में वीर निर्वाण की पाँचवी-छठी शताब्दी मे पुन. बारह वर्षीय अकाल राक्षस ने मगध को अपने विकराल गाल मे दबा लिया। यह बडा भयकर अकाल था, इसमे त्यागियो का तप भी डोलायमान हो गया था, आचारो मे महान् परिवर्तन हो गया था और अन्न के अभाव से दिन प्रतिदिन स्मरण शक्ति नष्ट होने लगी थी। इससे परम्परागत जो कठस्थ विज्ञा चली आ रही थी वह विस्मृत होने लगी थी इतना ही नही किन्तु उसका विशेष हिस्सा विस्मृत हो भी चुका था। शेष बचे हुये श्रुत को किसी तरह कायम रखने की भावना से दुर्भिक्ष के अन्त मे मथुरा में आर्य श्रीस्कंदिलाचार्य ने विद्यमान समस्त श्रुतधरो को एकत्रित किया। उनमे जो मताग्रही, सुखशील और नरम दल के मुनि थे वे भी आये। परन्तु इसी मे मतभेद पडा और वह यह कि मुनियो के आचार के लिये क्या लिखना चाहिये? क्या नग्नता का ही विधान किया जाय या वस्त्रपात्रता का? एक पक्ष कहता था कि नग्नता ही विधान होना चाहिये, दूसरा पक्ष वस्त्रपात्रता के विधान की बात पर जोर दे रहा था। इस प्रकार की पारस्परिक तकरार होने पर भी दीर्घदर्शी स्कादिलाचार्य ने और उनके बाद के उद्धारक देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमणजी ने सूत्रो मे कही पर भी केवल नग्नता या मात्र वस्त्र पात्रता का ही उल्लेख नहीं किया, परन्तु दोनों बातो का सघटित न्याय किया है। माथुरी वाचना के मूलनायक पुरूष और बलभी वाचना के नायक पुरूष, इन दोनों महात्माओं का मैं हृदय पूर्वक कोटिशः अभिनन्दन करता हूँ कि उन्होंने उस २ समय के किसी तरह के वातावरण में न आकर आचार प्रधान आचारांग सूत्र में मुनियों के आचारों की संकलना करते हुये मात्र साधारतया ही भिक्षु और भिक्षणी के आचार बतलाये हैं। उसमे कही पर भी जिनकल्प या स्थविर कल्प एव श्वेताम्बर या दिगम्बर का नाम तक भी नही आने दिया। धन्य है उन महापुरूषो की अनाग्रहीता को, धन्य है उनकी मुमुक्षुता को और धन्य है उन निस्पक्ष पुरूष रत्नो की जननी को। जो विचारक पुरूष आचारागा सूत्र मे दिये हुये भिक्षु तथा भिक्षुणियो के आचार को बिना कदाग्रह के सिर्फ एक ही दफा पढ़ लेगा उसके मन में मेरे उपरोक्त

किये निर्णय के सम्बन्ध में जरा भी शंका न रहेगी। मेरी यह प्रामाणिक कल्पना है कि माथुरी वाचना के समय ही मुनियों में स्पष्टरूप से दो दल हो गये थे। श्वेताम्बरों मे जो दिगम्बरो के विषय में यह दन्तकथा है कि वीरात् ६०९ में दिगम्बरों की उत्पत्ति है, इस दन्तकथा में बतलाया हुआ समय और माथुरी वाचना का समय लगभग समीप का होने के कारण पूर्वोक्त मेरी मान्यता को पुष्टी मिलती है। बस अब तो एक ही मुँग के दो टुकड़े हो गये, तिल तेरे और उड़द मेरे वाली बात हो गई। एक ही पिता के दो पुत्रों ने हिस्सा-बाँट कर पिता के घर मे एक मजबूत दीवार चिननी शुरू कर दी। दोनों पुत्रो को श्रीवर्धमान महावीर पर ममत्व होने के कारण इन दोनों ने अपने २ सिद्धान्त श्री श्रीमहावीर के नाम पर चढ़ा कर आग्रह के आवेश से अनेकान्त मार्ग और अपेक्षावाद के श्रीमहावीर के मूल नियम को तोड़ कर परस्पर शाब्दिक महाभारत शुरू किया। एक ने दूसरे को बोटिक और निह्नव कहना प्रारंभ किया, तब दूसरे ने उसका जवाब भ्रष्ट और शिथिल शब्दों में दिया। दोनो पक्षों ने शीघ्रता से अपने २ पक्ष को प्रबल करने के लिये अपनी अनुचित और एकान्तिक कल्पना को भी श्रीमहावीर के नाम पर चढ़ा कर उस प्रकार के शास्त्र (शस्त्र?) भी घड़ डाले और उसमे भी उनकी जो दशा हुई थी वह मैं अपने शब्दो मे न बतला कर आर्य श्री सिद्धसेन के ही शब्दो में बतलाता हूँ–

"ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिष सग जात मत्सरयो। स्यात् सौख्यमपि शुनोर्भ्रात्रोरपि वादिनोर्न स्यात्।"

वाद द्वात्रिंशिका–१

वे दोनो भाई अपनी २ मान्यताओं के आवेशकीधुन में इस बात को भी भूल गए कि मुक्तता का विशेष सम्बन्ध आत्मा और उसकी वृत्तियो के साथ है या कि वस्त्र-पात्र और नग्नता के साथ? दोनो पक्षो ने भविष्य की प्रजा को अपने अपने पक्ष में मुक्ति के पट्टे का दस्तावेज मिलने की अयोग्य और बालिश बात भी करते हुए आगा पीछा न देखा। जिस के परिणाम स्वरूप वर्तमान प्रजा पारस्परिक विरोध से मुक्ति के विपरीत मार्ग पर जा रही है। पानी मे तैरना सीखनेवाला एक बालक भी यह समझ सकता है कि तैरने की कला का अभ्यास करने तक तुंबी रखना पडता है। परन्तु वह अभ्यास पूरा हुये बाद-एवं तैरने मे पूर्ण दक्षता मिलने पर वह तुबा भाररूप मालूम होता है। परन्तु जो अभ्यासी उस कला मे अधकचरा और संशयशील है, उसे अपना पूर्णविश्वास हुए बिना वह तुंबा अपनी सुरक्षितता के लिए रखना पडता है। इस तरह के सरल और बाल सुबोध विषय में कोई यह कहे कि

प्रत्येक तैरने वाले को निरन्तर तुबा रखना ही चाहिए, उसके सिवाय उसका छुटकारा ही नहीं और दूसरा यों कहे कि हरएक तैरने वाले को अपने आत्मबल पर विश्वास रख कर ही तालाब में कूद पड़ना चाहिये और तुंबे का जरा भी स्पर्श न करना चाहिये। ये दोनों बातें जैसी हास्यपात्र हैं उसी प्रकार श्वेताम्बरता और दिगम्बरता का आग्रह भी मुमुक्षुओं के लिए वैसा ही हास्यपात्र है। मैं मानता हूँ कि यदि उन्होंने किसी तरह का आग्रह न रख कर मात्र सूत्रग्रन्थों के अनुसार ही अपना पक्ष कायम किया होता और यह लिखा होता कि भिक्षुओ को चाहिये यथाशक्य अपनी आवश्यकताओं को कम रक्खें और विवश होकर मात्र संयम निर्वाह के लिए यदि कोई छूट रखनी पड़े तो वह बहुत ही कम प्रमाण में रक्खें, इतने ही अक्षरों मे उन दोनों पक्षों का आशय आ सकता है। सारा समाधान हो सकता था और दोनों में से एक पक्ष ज़रा भी खण्डित नही होता था। परन्तु जो आग्रह के घोडेपर चढ़े हो, उनके मन में ऐसी मताग्रह के नकारे बजते हो, वहा निस्पक्षता की तूती कौन सुनता है? उन्होंने पक्ष भी अकाव्य बांधे और प्रजाके आध्यात्मिक बलका नाश होने की तरफ जरा भी ध्यान न दिया। मानसिक बलका सत्यानाश होने पर भी उन्होंने "देह पातये" और कार्य साधये, की रीतिसे अपना विशिष्ट बल इसी मार्ग में खर्चना शुरू किया और जो बात महावीर ने न कही थी, एव जो महावीर के प्रवचन में उसे सकलित करने वालो ने भी न चढ़ाई थी, उसी बात को महावीर के नाम पर चढ़ाकर वैसे अनेक ग्रन्थ लिखने शुरू किये और साहित्य रूपी अपूर्णनिरोगी शिशु को महावीर के नाम पर चढ़ाते हुए सम्मिश्रणों की शटास पिला २ इतना अधिक सुजा दिया कि वर्तमान काल में यह समझना भी बडा कठिन हो गया है कि यह उसकी विकार जन्य सोजिश स्थिति है या वास्तविक रक्त। एक तरफ आचार्य श्री जिनभद्रजी ने इस तरह का प्रघोष किया कि जिनकल्प विच्छेद हो गया है, ऐसा श्री जिनेश्वर भगवान ने कहा है। इस तरह असत्य रीत्या जिनेश्वर भगवान के नाम पर चढ़े हुए प्रवादका अनुसरण करके और प्रचलित सप्रदाय को सन्मान देकर आचारांग सूत्र के टीका कार श्री शीलाकसूरिजी न उस आचार प्रधान ग्रन्थ मे जहां पर वस्त्र पात्र से लगते हुये नियम लिखे गये हैं वहां बहुत सी जगह ऐसा उल्लेख किया है कि "यह तो जिनकल्पीका आचार है, यह सूत्र जिनकल्पीको उद्देश कर लिखा गया है और यह बात जिनकल्पको ही घट सकती है।" जहां तक मैं समझता हूँ, टीकाकार के ये उल्लेख मूलका स्पर्श तक नही करते, क्योंकि यदि उस प्रकार नामो के विभागानुक्रम से ही आचारों का बन्धारन किया गया होता तो मूलमें ही क्यों न वैसा उल्लेख किया गया होता। मूलमे तो मात्र विशेषता रहित भिक्षु और भिक्षुणी शब्दों में ही मुनियों के आचार लिखने का

प्रारंभ किया गया है। साथ ही यहां पर मुझे यह भी बतला देना चाहिये कि टीकाकारने इस तरह का मूल को स्पर्श न करने वाला अर्थ करते हुए कई एक जगह तो अपने सम्प्रदाय से भी विरूद्ध कलम चला दी है। कहीं २ पर वे स्पष्ट रूप से स्खलित भी हो गये हैं। रा० रवजी भाई द्वारा छपे हुये आचारांग सूत्र में पृ० ११३ में ५५६ वीं कलम में, पृ० १९० मे ८२४ वीं कलम में और पृ० १९४ में ८४१ वीं कलम मे भिक्षु और भिक्षुणी के आचार एक समान लिखे गये हैं। तथापि टीकाकारने उन कलमों के भाव को जिनकल्पियों के लिये घटाने का साहस करके स्पष्ठतया अपने साप्रदायिक सिद्धान्त का बाध किया है। क्योंकि श्वेताम्बर संप्रदाय मे पुरूष ही जिनकल्प के अधिकारी माने गये हैं और भिक्षुणी के लिये लिखा गया हो उसे जिनकल्पी का आचार मान लिया जाय तो फिर उसमे आये हुये भिक्षुणी शब्द के अर्थ को किस तरह संगत किया जाय? तथा जिस जिनकल्प के विच्छेद होने का श्रीजिनभद्रसूरिजी ने जिन भगवान के नाम से दुदुभिनाद सुनाया है उसे तो उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले आचारो का उल्लेख सूत्रो एव अन्य ग्रन्थों मे किस तरह हो सकता है? इस प्रकार अपने समय के संप्रदाय की रक्षा करते हुये टीकाकारने "जिण कप्पिया इत्थी न होई" अर्थात् स्त्री जिनकल्पी नहीं हो सकती, इस प्रकार के साप्रदायिक सिद्धान्त को वाधित किया है। यह बात उनके लिये 'अजा निरासे उष्ट्रप्रवेश' जैसी हुई है। इस तरह मात्र साप्रदायिक मोह मे लिये ही प्रवचन के ऐसे अनेक व्यापक सूत्र भी विपर्यास को प्राप्त हो गये हैं। परन्तु संप्रदाय का मोह इतना कीमती है कि उसकी रक्षा के लिये ऐसे अनेक विपर्यासो का हिसाब कुछ भी नही गिना जाता मैं अपने मान्यतम पूर्वजों की ऐसी स्थिति को ही तमस्तरण कहता हूँ और इसी हकीकत को साहित्य का विकार कहता हूं। यहा पर पाठक स्पष्टरूप से समझ सके होगे कि जैनसाहित्य में विकार होने से उसकी हानि का प्रथम फल तो यह श्वेताम्बरता और दिगम्बरता की निरर्थक किन्तु भीषण लडाई है। इस सम्बन्ध में यहां पर यद्यपि अधिक लंबा होने के भय से इस विषय को मैं यहा ही खतम करना चाहता हूँ। फिर भी इतना तो मुझे अवश्य कह देना पडता हे, कि यह पूर्वोक्त श्वेताम्बरता और दिगम्बरता का झगडा परस्पर सिर्फ मुनियो का ही था और है, परन्तु उन्होने श्रवकों की क्रियापद्धति में भी उसे सम्मिश्रित कर उस पवित्र क्रियापद्धति को भी लांछित किये बिना न छोडा। ऐसा करने से श्रावको की पारस्परिक एकता मे भग पडने के कारण उन्हे भी अपने समान ही कलही और मताग्रही बनाने का प्रयास किया है। इससे वर्तमान श्वेताम्बर दिगम्बर के महासमरांगण का सेना पतित्व भी उन्ही और उनकी वर्तमान सन्तानो को ही शोभता है। इस विषय को मैं चैत्यवाद नामक

दूसरे मुद्दे में विशेष स्पष्ट करना चाहता हूँ, तथापि संक्षेप में इतना बतला देने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि हमारे बाप दादाओं द्वारा बोये हुये इस वृक्ष पर आज तक कितने और कैसे २ मीठे फल पकते आये हैं।

१. श्वेताम्बर संप्रदाय स्पष्टतया जुदा हुये बाद वीरात् ८८२ वें वर्ष में उनमें का विशेष भाग चैत्यवासी बन गया।

२. वीरात् ८८६ वें वर्ष में उनमें 'ब्रह्मदीपिका, नामक नये संप्रदायका प्रारंभ हुआ।

३. वीरात् १४६४ वे वर्ष में 'वडगच्छ' की स्थापना हुई।

४. विक्रमात् ११३९ वे वर्ष में 'षट्कल्याणकवाद' नाम से नया मत प्रचलित हुआ।

५. क्रिमत् १२०४ वे वर्ष में 'खरतर' संप्रदाय का जन्म हुआ।

६. विक्रमात् १२१३ वे वर्ष में 'आंचलिक' मत का प्रादुर्भाव हुआ।

७. विक्रमात् १२३६ वे वर्ष में 'सार्धपौर्णिमीयक' मत निकला।

८. विक्रमात् १२५० वे वर्ष में 'आगमिक' मत का प्रारम्भ हुआ।

९. विक्रमात् १२८५ वे वर्ष में 'तपागच्छ' की नीव रक्खी गई।

१० विक्रमात् १५०९ वे वर्ष में 'लुंकामत' का बीजारोपण हुआ और १४३३ वे वर्ष में उस मत का साधुसंघ स्थापित हुआ।

११. विक्रमात् १५६२ वे वर्ष में 'कटुकमत' प्रचलित हुआ।

१२. विक्रमात् १५७० वे वर्ष में बीजामत प्रगट हुआ

१३. विक्रमात् १५७२ वे वर्ष में श्रीपाश्र्वचद्रसूरि ने अपना पक्ष स्थापन करने की गुजरात के वीरमग्राम में कमर कसी

इसके उपरान्त इसी वृक्ष की शाखायें ढूंढ़िया, तेरापथी, भीखमपथी, विधिपक्षी और तीन थइया वगैरह फली फूली हैं। चौथ पंचमी का झगड़ा, अधिक मासका झगड़ा, चतुर्दशी और पूर्णिमा का झगडा, उपधान का झगड़ा, श्रावक प्रतिष्ठा विधि करा सके या नही? इस बात का झगड़ा इत्यादि अनेकानेक विषवेले इस वृक्ष पर चारों तरफ से लिपट रही हैं। इन झगड़ों को मजबूत बनाने के लिये इन पर अनेक ग्रन्थ भी लिखे जा चुके हैं और वर्तमान में भी हमारे बुजुर्ग कुलगुरूओं ने उस प्रकार के ग्रन्थ लिख कर

भावी प्रजा को सशास्त्र बनाने की प्रवृत्ति प्रचलित रक्खी है, इस बात के लिये उन्हें कितना अधिक धन्यवाद !!! इन परिवर्तनों के बीच में ऐसे महापुरूष भी हो गये हैं जिन्होंने इस गिरते हुये समाज को बचा लिया है और क्रियोद्धार करके फिर से यथास्थान पर लाने का प्रबल प्रयत्न भी किया है, एवं कई एक ऐसे महात्मा भी हो गये हैं कि जिन्होंने गिरते हुये समाज की ओर दुर्लक्ष करके अपनी सत्ता को विशेष जमाने के लिये ही प्रयत्न सेवन किया है। विक्रम संवत् १३०२ में क्रियोद्धारक जगच्चंद्रसूरि के गुरूभ्राता सुखशील विजयचन्द्रसूरि ने निम्न लिखित उद्‌घोषणा करके अपनी सत्ता को अचल बनाया था।

१ * गीतार्थ वस्त्रो की गठडियां रख सकते हैं।

२ "हमेशह घी दूध खा सकते हैं।

२ "कपडे धो सकते हैं।

४. "फल तथा शाक ले सकते हैं।

५. "साध्वीद्वारा लाया हुआ आहार खा सकते हैं और

६ "श्रावमो को आवर्जित करने खुशी करने-अपने पक्ष मे रखने के लिये उनके साथ बैठकर प्रतिक्रमण भी कर सकते हैं, इत्यादि (धर्मसागरजी की शोधित पट्टावली ४५ वाँ देवेन्द्रसूरि का प्रकारण) इस तरह भगवान पार्श्वनाथ के ऋजुप्राज्ञ शिष्यो के आचार जैसे सुख शील आचारों को और फिर एक आचार्य द्वारा मुद्रित होकर उद्‌घोषित होते आचारों को देख कर कौन गीतार्थ घी दूध खाना छोड़ देगा? कौन-सा गीतार्थ फल और शाक न खायगा? कौन-सा गीतार्थ स्वयं गौचरी जाने के तकलीफ उठावेगा और कौन-सा गीतार्थ श्रावकों का मक्खन त्याग देगा? मेरी मान्यतानुसार पूज्य श्री जगच्चद्रसूरि ने क्रियोद्धार करके जो उग्रत्याग की स्थापना करने का प्रयास किया था विजयचन्द्र ने उस पर पानी फिराने जैसा करके निर्ग्रन्थो के विशुद्ध आचारो को धूल मे मिलाने का खुला प्रयत्न किया था। ऐसा होना उचित ही था, क्योंकि 'विवेकभ्रष्टाना भवति विनिपात. शतमुख:' इस प्रकारकी प्राकृतिक फौजदारी से कौन-सा बलवान है जो बेदाग बच सके? इसी तरह दिगम्बरों में भी छोटेबड़े अनेक पथ प्रचलित हो गये थे कि जो आज तक भी

*विजय चद्र सूरि ने ये उद्‌घोषणायें मात्र गीतार्थों के लिये ही की है यह पट्टावली के उल्लेख से स्पष्ट मालूम होता है। परन्तु आधुनिक समय में कोई विरला ही साधु होगा जो पूर्वोक्त प्रत्येक उद्‌घोषणा की तामील न करता हो, अथवा यह समझना चाहिये कि वर्तमान में विद्यमान समस्त साधु मात्र गीतार्थ है। ऐसा न हो तो आज घर घर के जैनचार्य ब्राह्मणों के बनाये हुये शास्त्रविशारद, न्यायविशारद, जैन धर्म भूषण, उपाध्याय समान भरमार कहा से हो? (वाह रे जैनियों के पचम काल तुझे धन्य है)

विद्यमान हैं। द्राविडसघ, यापनीयसंघ, काष्ठासघ, माथुरसघ, भिल्लकसंघ, तरापथ, बीसपथ, तारणपथ और भट्टारकप्रथा वगैग्ह। परिणाम में दोनों पक्षो की भयकर हानि हुई है और वह यह कि जो आचार चारित्र को उज्जवल करके आत्मा को बलवान बनाते थे उन का वर्तमान समय में दोनों पक्षो मे सर्वथा अभाव हो गया और धर्म सिर्फ एक निर्वाह का साधन जैसा बन गया है। श्रावको मे धामिक वैरभाव पूर्णजोश से बढ़ता जा रही है और दिन प्रतिदिन कलहकी सामग्रियो में होती हुई वृद्धि को रोका नही जा सकता। मैं चाहता हूँ कि पूर्वोक्त प्रत्येक मत का यहा पर सविस्तर इहितास दू परन्तु लिखते समय मेरे पास उतना वक्त और उतनी सामग्री न होने से यह बात मुझे और किसी प्रसग पर छोड देनी पडती है। मेरी नम्रमान्यतानुसार जिस समय साधु चैत्यवासी हुये उस वक्त साधुओं के बन्धारन को जबरदस्त धक्का पहुचा है और वह यहा तक कि आज तक भी उसका प्रतिकार करना बिलकुल अशक्य हो गया है। चैत्यवास हुये बाद बहुत से महापुरूषो ने उसका प्रतीकार करने के लिये अनेकानेक भागीरथ प्रयत्न भी किये परन्तु उनसे उस चैत्यवासके विषमय असरका समूल उन्मूलन न होसका, यह भी हमारे दुर्भाग्य की निशानी है। इच्छा थी कि इस चैत्यवास का व्योरेवार उल्लेख करू परन्तु मुझे विवश होकर उसे सक्षिप्त करना पडता है। जो पाठक इस विषय को विशेष जानना चाहते हो उन्हे मात्र एक सघपट्टका ग्रन्थ ही देख लेने की प्रेरणा करता हूँ। इस विषय को लिखते हुये 'सबोध प्रकरण, ग्रन्थ पृ० स० २-१३-१८ मे श्रीहरिभद्रसूरिजी *लिखते है कि "ये लोग

*श्री हरिभद्रसूरिजी स्वय भी चैत्यवासी सप्रदाय के थे। उनमे सिर्फ इतना ही फर्क था कि वे सदाचारी, शास्त्रभ्यासी और सुविहितानुसारी थे उस समय उनके सप्रदाय की स्थिति तो ऊपर लिखे मुजब ही चली आ रही थी। वह स्थिति विपरीत मालूम होने मे उन्हे ऐसा लिखना पडा है। इसीसे यह साबित होता है कि वे कट्टर चैत्यवासी न थे, परन्तु उस सप्रदाय में से थे। वर्तमान यतिसप्रदाय मे भी यह बात देख पडती है कि उसका विशेष हिस्सा अनादरनीय कोटिका है तथापि अल्प प्रमाण मे भी उसमे सदाचारी और सुविहितानुसारी यति विद्यमान हैं। श्री हरिभद्रसूरिजी के विषय मे 'शतार्थी, नामक ग्रन्थ मे श्री हेमचद्राचार्य के समसमयी सोमप्रभूसूरिजी लिखते हैं कि "हरिभद्रसूरि मध्यान्ह समय दु स्थित याने दुखी या रक लोगो को भोजन देते थे। सोमप्रभाचार्य जी ने अपनी शतार्थी मे हभिद्रजी को कामद विशेषण देकर उपरोक्त अर्थ लिखा है। कामद शब्द की टीका करते हुये उन्होने इस प्रकार लिखा है।

कामद? शख वादन पुरस्सर प्रातर्लोकाना स्वपर-शास्त्र-मशयच्छेदनरूपान् मध्याहे प्रतिवादिना वाद विनोद रूपाश्व (कामान्) ददाति-इति (कामद।)"

श्रीहरिभद्रजी की वौद्ध साधुओ के जैसे मात्र यह एक दान देने के आचार पर से मे उन्हे चैत्यवासी सम्प्रदायके कहने की हिम्मत करता हूँ। अन्यथा उनके ग्रन्थ आज गणधरो की

चैत्य में और मठ में रहते हैं, पूजा करने का आरभ करते हैं, अपने लिये देवद्रव्य का उपयोग करते हैं, जिनमंदिर और १ शालायें चिनवाते हैं, इन मे से कितने एक कहते हैं कि श्रावको के सामने सूक्ष्म बातें न कहनी चाहियें, * मुहूर्त निकाल देते हैं, निमित्त २ बतलाते है और भभूती भी ३ डालते हैं। वे रंगविरंगे सुगन्धित तथा धूपित वस्त्र पहनते हैं, स्त्रियों के समक्ष गाते हैं, साध्वियो द्वारा लाये हुये पदार्थ खाते है, तीर्थपंडों के समान अधर्म से धन का सचय करते हैं, दो तीन दफा खाते हैं, ताबूल वगैरह ग्रहण करते हैं, घी दूध फल फूल और सचित्त पानी का भी उपयोग करते हैं, जैनार आदि के प्रसंग पर मिष्ट आहार प्राप्त करते हैं, आहार के लिये खुशामद करते हैं और पूछने पर भी सत्य धर्म नही बतलाते। सुबह सूर्योदय होते ही खाते हैं, बारवार खाते हैं, विगइयो को खाते हैं, लोच नही करते, शरीर से मैल उतारते हैं, साधुओ की प्रतिमा को वहन करते हुये शरमाते हैं, जूता रखते हैं और बिना कारण भी कमर पर वस्त्र लपेटते हैं। स्वय भ्रष्ट होते हुये भी दूसरो को आलोचना देते हैं, थोडीसी उपधिकी भी पडिलेहण नही करते, शय्या, जोडा

वाणी की भी भुलाते हैं। इस दान देने की हकीकत को उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने भी अपने द्वात्रिशिका नामक ग्रन्थ मे याद की है। इस विषय मे मेरा नम्रमत है कि जब तक यह शतार्थीवाला उल्लेख अप्रामाणिक न साबित हो। तब तक शोधक विद्वान उन्हे चैत्यवासी सम्प्रदाय के कहे तो यह अयुक्त न होगा। ऐसा कहने मे हम उनका अपमान नही करते। इस विषय में विशेष अन्वेषण करके जो तथ्य मालूम देगा सो प्रगट करने की इच्छा है।

१ "वर्तमान काल मे धर्मगुरू बडी २ पाठशाला वगैरह सस्थाये स्थापित करते हैं और उसके बहिवट-प्रबन्ध कार्य मे भी हस्तक्षेप करके सस्थाओ की दुर्दशा करते हैं यह बात सबके प्रत्यक्ष ही है। यह रिवाज शालाये चिनवाने से भी खराब है * श्रावको को सूत्र न पढ़ने देने की बात का मूल इसी उल्लेख मे समाया हुआ है। अपने भक्त श्रावको को सट्टा करने की सलाह देते हुये, सट्टा करने के लिये दूसरे गाव भेजते हुये और लोटरी या सट्टे मे भक्तजन को लाभ प्राप्त हो इस लिये स्वय जाप करते हुये कई एक मुनियों को मैंने प्रत्यक्ष देखा है। ३ जिन्हे सन्ताने न होती हो ऐसी स्त्रियो पर नो गुरूजी के हलके हाथ से वासक्षेप पडता हुआ आजकल भी सब अपनी नजर से देखते हैं। यह वासक्षेप भभूती का भाई है। पालीताना और अहमदाबाद जैसे साधुओं के अखाड़ेवाले स्थलों मे इस रिवाज का अनुभव होना सुशक्य है वर्तमान कालीन धर्मगुरू इन प्रतिमाओं को धारण करते हुये बतलाते है? और ऐसा कहकर पूज्य श्री हरिभद्रसूरि को अपमानित करते मालूम होते है। बिना कारण कमर पर वस्त्र लपेटने की रीति को अनाचार कहा गया है, तब फिर वस्त्रो की गठडिया रखने वाले आधुनिक मुनियो को श्री हरिभद्रसूरि जी किन शब्दो से विभूषित करते?

आयुध और ताम्बे वगैरह के पात्र रखते हैं, स्नान करते, तेल लगाते और शृंगार सजते हैं, अतर फुलेल लगाते हैं। अमुक गाव और अमुक कुल मेरा इस तरह का ममत्व करते है। स्त्रियों का प्रसंग रखते हैं। श्रावकों से कहते हैं कि मृतकार्य के समय जिनपूजा करो और उन मृतकों का धन जिनदान में देदो। धन के निमित्त श्रावकों के समक्ष अंगादि सूत्र वांचते हैं, शाला मे या गृहस्थियों के घर में खाजा वगैरह का पाक करात हैं। अपने ही नाचारवाले मृतक गुरूओं के दाहस्थली पर पीठ चिनवाते हैं बलि करते हैं। उनके व्याख्यान में स्त्रिया उनके गुण गाती हैं। मात्र स्त्रियों के समक्ष भी वे व्याख्यान देते हैं और साध्वियां मात्र पुरूषों के सामने भी व्याख्यान देती हैं। भिक्षा के लिये नहीं फिरते, मंडली में बैठकर भोजन भी नहीं करते। सारी रात सोते हैं, गुणवान पुरूषों की तरफ द्वेषभाव रखते हैं, क्रयविक्रय करते हैं, प्रवचन के बहाने विकथायें करते हैं। चेला बनाने के लिये द्रव्य देकर छोटे बालकों को खरीदते हैं। मुग्ध-भोले जनों को ठगते हैं, जिन प्रतिमाओ को बेचते हैं और खरीदते हैं, उच्चटन वगैरह भी करते हैं, वैद्यक करते हैं, यंत्र मंत्र करते हैं, ताबीज गडा करते है। शासन की प्रभावना के बहाने लडाई झगडे करते हैं। सुविहित मुनियों के पास जाते हुये श्रावको को रोकते हैं, शाप देने का भय बतलाते हैं, द्रव्य देकर अयोग्य शिष्यो को भी खरीदते हें, व्याज

१ यही रीति आजकल स्पष्टतया प्रचलित है। २ उपधानादि पर जिसमे कि स्त्रिया ही अधिकतर हिस्सा लेती हैं, जहा होता हो वहा के प्रसग को इस प्रसग को साथ मिलाइये। ३ आधुनिक समय में मृतक के बाद पूजा पढ़ाना पूजा की सामग्री रखने, स्नात्र पढ़ाने और अठाई महोत्सव करने की जो धमाल चल रही है वह चैत्यवासियो की ही प्रवृत्ति का परिणाम है ४ वर्तमान में जब कही भगवती सूत्र या कल्पसूत्र पढ़ा जाता है तब श्रावको को अपनी जेब मे हाथ डालना पड़ता है, यह बात पाठक भलीभांति जानते है इस रीति में इतना सुधार हुआ है कि गुरूजी खुले तौरसे उस द्रव्य को नही लेते ५ जिस प्रकार विवाह मे सीठने गाये जाते हैं, वैसे ही उपाश्रय में गुरूजी ने जोइये सोनाना पूठा अमे क्याथी लावीये, इत्यादि मधुर ध्वनि से श्राविकायें गुरूजी का मजाक उडाती है, यह रीति निन्दनीय है और यह चैत्यवासियो की ही प्रथा है अत अनाचरणीय है। ६ वर्तमान काल में यह रीति भी कितनी एक जगह प्रवर्त रही है। ७ निर्दोष भिक्षा आदि आवश्यक कार्य के लिये श्रीगौतम स्वामी स्वय पधारते थे, परन्तु आधुनिक समय के आचार्य(?) तो उस कार्य के लिये बिचारे मुग्ध क्षुल्लक मुनियो को धकेलते हैं, मानो वह काम मजदूरों का न हो। जहा साधुओं के ही लिये रसोडे खुलते हो बिहार में मुनियों के लिये ही गाडी व रसोइया साथ भेजा जाता हो वहा पर फिर भिक्षाकी निर्दोषता की बात ही क्या करनी? (इसी का नाम तो पंचमकाल है?) ८-९ ये रीतिया आज यतिवर्ग में विद्यमान हैं। १०-११-वर्तमान समय मे इन रीतियों की विद्यमानता के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है क्योंकि ये सब जगह प्रचलित हैं।

लेन देन का व्यापार करते हैं, अविहित अनुष्ठान करने से प्रभावना होती बतलाते हैं। प्रवचन में न बतलाये हुये तपकी प्ररूपणा करके उसका उपकरण और द्रव्य अपने अनुरागी गृहस्थों के घर पर इकट्ठा कराते हैं, प्रवचन सुनाकर गृहस्थों से धन-की आकांक्षा रखते हैं, ज्ञान कोश की वृद्धि के लिये धन एकत्रित करते और कराते हैं॥ उन सब में किसी का समुदाय पररपर मिलाप नहीं रखता, सब में परस्पर विसंवाद है। अपनी २ बडाई करके सामाचारी का विरोध करते हैं। वे सब लोग विशेषत: स्त्रियों को ही उपदेश देते हैं, स्वच्छन्द होकर बर्तते हैं, धमाल मचाते हैं, अपने भक्त के सरसों समान गुण को भी मेरु समान गा बतलाते हैं, विशेष उपकरण रखते हैं, घर २ जाकर धर्मकथाये सुनाते हुये भटकते हैं। सबके सब अहमिंद्र हैं, अपनी गरज पडने पर मृदु बनते हैं और गरज पूरी होने पर ईर्षा करते हैं। गृहस्थियो का बहुमान करते हैं, गृहस्थो को सयम के सखा कहते हैं, चदोवा और पूठिया की वृद्धि करते जा रहे हैं, नांदकी आमदमे भी वृद्धि किये जा रहे हैं, गृहस्थों के पास स्वाध्याय करते हैं और परस्पर विरोध रखते हैं, तथा चेलो के लिये परस्पर लड मरते हैं। अन्त में लिखते हैं कि "ये साधु नही किन्तु पेट भरनेवाले पेटू हैं, जो यह कहते हैं कि वे तीर्थकरका वेश पहनते हैं, अत· वन्दनीय हैं, इस लिये श्रीहरिभद्रसूरिजी कहते है कि यह बात धिक्कार के पात्र है, यह मस्तक वेदना की पुकार किसके पास की जाय?

इस प्रकार श्रीहरिभद्रसूरिजी ने अपने चैत्यवास की स्थिति के लिये सविस्तर उल्लेख करके बडी टीका की है और उन साधुओं को निर्लज अमर्याद क्रूरादि अनेक विशेषणों से सबोधित किया है। इसी इबारतके साथ मिलती जुलती इबारत मैंने महानिशीथ सूत्र में भी देखी है, परन्तु उसे यहा उधृत करके पुनरूक्ति करने की आवश्यकता नहीं है। इसके अलावा इस विषय के साथ सम्बन्ध रखनेवाली एवं अन्य भी बहुतसी उपयोगी बाते मैंने गुजराती भाषान्तर शतपदी नामक ग्रन्थ में भी विस्तृत विस्तार वाली पढ़ी हैं, सूचना करने के सिवा उन में से मैं यहा पर कुछ भी नही लिख सकता। चैत्यवासियों के जो आचार ऊपर बतलाये गये हैं उनमें से कितने एक तो आज भी वैसे ही विद्यमान है और कितने एक आचारो में कुछ थोडाघना सुधार भी हुआ मालूम देता है। इस सम्बन्ध में जो नीचे नोट दिये है पाठको का उस ओर खास ध्यान खीचता हूँ। मैं मानता हूँ कि जो रोग हड्डियों तक में व्याप्त हो गया हो उसका शीध्र उन्मूलन होना सहज काम नहीं है, वैसे ही चैत्यवासका जो असर मुनियो के मूल आचारो पर हो गया है उसे सहज ही में दूर करना बड़ा कठिन है, तथापि जैन समाज यदि महात्मा गांधीजी जैसे किसी समर्थ पुरूष को पैदा करे तो यह रोग एक क्षण भर भी नहीं टिक

सकता। इतना लिखकर और इसमें श्वेताम्बर दिगम्बर से लगता इतिहास तथा उन दोनो पक्षों का परिमाम में चारित्र की क्षति बतला कर में अपने प्रथम मुद्दे की चर्चा को यहां पर ही समाप्त करके चैत्यवाद नामक दूसरे मुद्दे की ओर चलता हूँ। पाठक महाशय भी इसी तरफ ध्यान देंगे ऐसी आशा रखते हुये अब मैं प्रस्तुत विषय का उपक्रम करता हूँ।

चैत्यवाद।

जैसे पूर्वोक्त प्रकार से सिर्फ फूट पडने के कारण हमारा विशुद्ध जिनकल्प तथा स्थविरकल्प नष्ट हो गया और उसकी जगह परम्पराकल्प एवं रूढ़ीकल्प ने घर कर लिया है वैसा ही चैत्यपूजा के सम्बन्धो भी हुआ है। इस विषयकों आपके सामने रखने से पहले मुझे चैत्यके इतिहास से लगता हुआ कितना एक आवश्यक उल्लेख करना है। मात्र जैनशब्दकोश का प्रमाण देकर कहा जाता है कि "चैत्य जिनौक' तब्दिम्बम्" (हेमचन्द्र) अर्थात् चैत्य शब्द का अर्थ जिनगृह और जिनबिम्ब होता है। कोशका यह प्रमाण मैं भी मानता हूँ, परन्तु सस्कृत साहित्य में ऐसे शब्द सख्याबद्ध हैं कि जिनका अर्थ वातावरण के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। हमारा चर्चास्पद चैत्यशब्द भी उन्हीं शब्दो मे से एक है। जब कभी ऐतिहासिको से शब्दो के इतिहास को पूछा जाता है तब वे उसके वातावरणजन्य अर्थ की ओर ध्यान न देकर उसकी मूल उत्पत्ति, व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति की तरफ लक्ष्य करते हैं। उसी प्रकार यदि चैत्य शब्द की मूल उत्पत्ति, व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति की तरफ लक्ष्य किया जाय तब ही उसका असली अर्थ हमारे हाथ आसकता है। 'चिता' 'चिति' 'चित्य' और 'चित्या' इन चार शब्दो मे चैत्य शब्द की जड मिल सकती है। इन चारो शब्दो का अर्थ एक समान है और वह 'चे' होता है, अर्थात् चैका सम्बन्धी याने उस पर बना हुआ या उसके निमित्त बना हुआ या अन्य किसी आकार मे रही हुई उसीकी सत्ता यादगार उसे 'चैत्य' कहते हैं। जिस जगह मृतक का अग्निसस्कार किया जाता है, वहा उसकी राखपर ही कुछ निशान बनाया जाता है, उसी को चैत्य कहते हैं। चैत्य शब्द का यह मूल एव मुख्य अर्थ है और सबसे अतिप्राचीन अर्थ भी यही है। कदाचित् यह अर्थ करने मे मेरी भूल होती हो तो तदर्थ पाठक महाशय निम्नलिखित प्रमाणो की ओर ध्यान दे- ससार-प्रसिद्ध इंग्लिश विश्वकोश में (Encyclopedia) एन्साइकलोपीडीआ में चैत्यशब्द के लिये निम्न प्रकारसे लिखा है-

Chaitya (Sanskırt, an adjectiye form derived from "Chıta" a funeral pıle)-In accordance with its etymology the word mıght denote originally anythıng connected with a funeral pıle e.g the bımulus raısed over the ashes of the dead person, or a tree markıng the spot, Such seems to

have been its earlier use in Indian literature, whether Brahamanical, Buddhist, or Jain; but as the custom of erecting monuments over the ashes or over the relics of departed saints prevailed chiefly among the Buddhists and the Jains, the word (or one of the Prakrit equivalents, Pali chaitya, etc.) is especially characteristic of their literature. In this sense it is practically synonymous with stupa, 'tope', in India (though stupa is rasker architecture and chaitya the religious, term) and has various equivalents in the countries of Asia to which the custom extended with the spread of Buddhism At a later period chaitya was used more generally to denote any shrine, reliquary or sacred tree. This is clear not only from the references in the literature, but also from the express statement in a Sanskirt dictionary of synonymous, the Viva pravasa of Mahesvara, kavi (A D IIII), quoted by the Commentary of Mallinatha, (14th Century A.D) on Kalidas's Meghaduta, Verse 23.

Encyclopedla of Rellgion and Ethics Voi 3. page 335.

चैत्य चिता शब्द से निष्पन्न हुआ विशेषणरूप है, याने उसकी व्युत्पत्ति के अनुसार चेत्यशब्द का मूल अर्थ चिता का सम्बन्धी होता है। उदाहरण के तौरपर मृतक मनुष्य की राखके ऊपर चिना हुआ स्तूप (Tumulus) या उस स्थान के चिन्ह स्वरूप मे रोपित किया हुआ वृक्ष। इस शब्द का सबसे पुराना अर्थ भारतीय साहित्य मे, चाहे वह साहित्य वैदिक हो, बौद्ध हो, या जैन हो यही किया गया देख पडता है। परन्तु स्वर्गवासी महात्माओ के अवशिष्ट 'अस्थि या भस्मपर इस प्रकार के स्मारक बनाने का रिवाज मुख्यतया बौद्धो और जैनो में ही प्रवर्तित होने से शब्द (जिसका एक प्राकृत भाषा या पालीका रूप 'चेतिय इत्यादि होना है) इन्ही के साहित्य का खास पारिभाषिक शब्द है। इस अर्थ मे वस्तुत भारतवर्ष मे मिलने वाले स्तूप शब्द का पर्याय बनता है। स्तूप और चैत्य मे इतना ही फर्क है कि स्तूप शब्द शिल्पशास्त्र से और चैत्य शब्द धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। एशियाखड मे बुद्धधर्म पसरने के साथ २ ही जिन २ देशो मे वह रिवाज प्रचलित होता गया त्यो त्यों उन देशो की भाषा में उस शब्द के अनेक पर्याय शब्द उत्पन्न होते गये। गत समय मे यह चैत्य शब्द विशेष साधारणरीत्या किसी भी मंदिर,

अवशिष्टाधार-भाजन या पवित्र वृक्ष इत्यादि के वाचक के तौर पर उपयोग में लिया जाने लगा था, यह बात साहित्य में मिलनेवाले उसके उल्लेखों द्वारा जितनी सिद्ध होती है उतनी ही पर्याय दर्शक संस्कृत कोशो पर से साबित होती है। यह विषय कवि कालिदास रचित् मेघदूत के २३ वें श्लोकपर मल्लिनाथ की ई० सन् १४ वीं शताब्दी की टीका मे उल्लिखित महेश्वर कवि ईस्वी सन् ११११ के विश्वप्रवास पर से भी देखा जा सकता है। (एन्साइकलोपीडिया आँफ रीलिजीयन एण्ड एथिकस)।

बनारस से प्रगट होती नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 'देवकुल' विषय के लेख में चैत्यशब्द के सम्बन्ध मे इस प्रकार उल्लेख किया है-

''देवपूजा का पितृपूजा से बड़ा सम्बन्ध है। देवपूजा, पितृपूजा से ही चली है। मंदिर के लिये सबसे पुराना नाम ''चैत्य'' है, जिसका अर्थ चिता (दाहस्थान) पर बना हुआ स्मारक है। शतपथ ब्राह्मण मे उल्लेख है कि शरीर को भस्म करके धातुओ मे हिरण्यका टुकडा मिला कर उन पर स्तूप का चयन (चुनना) किया जाता था। बुद्ध के शरीर धातुओं के विभाग तथा उन पर स्थान २ पर स्तूप बनने की कथा प्रसिद्ध ही है। बौद्धों तथा जैनों के स्तूप और चैत्य पहले स्मारक चिन्ह थे, फिर पूज्य हो गये।''

(पंडित चद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए० अजमेर)

आगमोदय समितिवाले आचाराग सूत्र मे इस विषय में नीचे मुजब बतलाया है- ''चेइयमहेसु' (पृ० ३२८) चेइयाइ (पृ० ३६६-३६७) रूक्खं वा चेइयकड' 'थूभ वा चेयकाड' वा (पृ० ३८२) और 'मडयथूभिचसु वा मडयचेइयेसु वा (पृ० ४२०) इस प्रकार इतनी जगह आचाराग सूत्र में चैत्यशब्द का उपयोग किया गया है। सूत्रो में जहा कही चैत्यशब्द का उपयोग किया गया है वहा पर विशेषत उसका व्यन्तरायतनै अर्थ किया गया है। यह व्यन्तरायतन और कुछ नही किन्तु स्मशान मे, उज्जड जगह में खण्डहरो मे या गृहस्थों के रहने की हदके किसी विभाग मे जलाये हुये या दबाये हुये मृतक शरीरो पर चिनवाये हुये चबूतरे, स्तूप या कबरे हैं। विशेषत· मृतको के जलाने या दफनाने की जगह मे ही व्यन्तरो का निवास लोक प्रतीत है, अतः वैसी जगह मे चिने हुये चबूतरे, स्तूप या कबरे, जिसे हम चैत्यशब्द से संबोधित करते हैं, उसे व्यन्तरायतन-व्यन्तर के रहने के स्थान की संज्ञा भी संघटित होती है। तथा 'रूक्ख वा चेइयकडथूभं वा चेइयकड, 'मडयथूभियासु, 'मडयचेइएसु (मृतक चैतयेसु) यें सारे उल्लेख तो उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं जिस अर्थ को हम उपरोक्त प्रमाण से निर्विवाद समझते हैं। इस प्रकार आचारांग सूत्र चैत्यशब्द के उपरोक्त प्रमाणित अर्थ

को ही पुष्ट करता है। इसके अलावा सूत्रकृतांग, स्थानाग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, (भगवती) ज्ञाता धर्मकथा, उपासकदशा, अंतकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक दशा, प्रश्वव्याकरण और विपाकश्रुत, इन समस्त सूत्रों मे भी जहां २ पर मात्र चैत्यशब्द का उपयोग किया गया है वहां उसका व्यन्तरायतन ही अर्थ किया गया है और इन अंगो में मात्र दो चार स्थल ही ऐसे हैं कि जहा चैत्यशब्द से 'जिन चैत्य' समझा जा सकता है, तथा जहा पर 'अरिहतचैत्य' ऐसा स्पष्ट पाठ मालूम होता है, वहां तो वह अर्थ अरिहंतो की चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह) अनायास सिद्ध ही है। (यद्यपि टीका कारों ने जिन चैत्य या अरिहन्त चैत्य का अर्थ जिन प्रतिमा या जिनमंदिर किया है, सो सही है, परन्तु अगों में आये हुये चैत्यशब्द का इस तरह अर्थ करते हुये उन्होंने जो विषम भूल की है उसे मैं अब आपके सामने रक्खूंगा) ऊपर चैत्यशब्द का उपयोग किया गया है उन सब स्थानों का सूत्र पाठ इस प्रकार है।

(२) सूत्र कृताग- "(१) मगल देवय चेइय पज्जुवासति" (नालदीय अध्ययन, स० पृ० ४२५) अग सूत्रों में जहां पर अमुक पुरूष, अमुक व्यक्ति का आदर करता हो ऐसा उल्लेख आता है वहा सब जगह यह (मगल देवय चेइय पज्जुवासति) उल्लेख दिया हुआ है। इसका अर्थ यह होता है कि जो उपासक है वह अपने उपास्य की मगल के समान वा मागलिक रीति से और देवता के समान तथा चैत्य के समान या देव के चैत्य के समान पर्युपासना करता है। अर्थात् जैसे धर्मवीर और कर्मवीर पुरूषो के चैत्य देव हुये बाद उनकी चिता पर चिनाये हुये स्मारक पर्युपास्य हैं त्यों यह उपास्य भी उस उपासक को पर्युपास्य है।

(२-३) ("मगल देवय चेइयं पज्जुवासामि") (स० पृ० १४१ और २४४) इसका भी अर्थ ऊपर बतला दिया गया है।

(४) ("तासि ण x उवरि चत्तारि, चत्तारि, चेतितथूभा xxx तेसि ण चेतितथूभाण पुरतो चत्तारि मणिपेढिआओ, तासि ण x उवरि चतारि चेतितरूक्खा") (स० २२९-२३० नदीश्वर विचार) इस उल्लेख मे चैत्य 'स्तूप शब्द का उपयोग किया गया है। इसका अर्थ भी उपरोक्त प्रकार से ही समझना चाहिये, अन्यथा इस शब्द का इस प्रकरण मे समन्वय होना संभवित नहीं है।

(४) समवायाग-(१) ("सुहम्माए सभाए माणवए चेइयक्खभे xxx वइरामएसु गोवट्टसमुग्गएसु जिणसकहाओ") स० पृ० ६३) यहां पर उपयुक्त

किया हुआ चैत्यस्तंभ शब्द भी उसी अर्थ को सूचित करता है जो चैत्य का प्राचीन और प्रधान अर्थ है। टीकाकार महाशयने भी यहा पर उसी मुख्य अर्थ का अनुसरण किया है (सुधर्मसभामध्ये षष्ठियोजनमानो माणवको नाम चैत्यस्तमोऽस्ति, तत्र वज्रमयेषु गोलवद् वृत्ता वर्तुलाः ये समुद्रका भाजनविशेषाः तेषु जिनसक्थीनि +++ तीर्थकराणं x अस्थीनि प्रज्ञप्तानि") स० पृ० ६४) अर्थात् सुधर्म सभा मे एक चैत्यस्तभ है, उसमें वज्रमय गोलाकार भाजन में तीर्थकरों की हड्डिया रक्खी हुई बतलाई है" टीकाकारने इस स्तभ की ऊंचाई ६० योजन बतलाई है, पाठको को इस तरफ ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह देवताई स्तभ है, मैं तो उसे ६० योजन के बदले ६०००० योजन ऊंचा मानने के लिये भी तैयार हूँ?

(२) "णायाधम्मकहासु ण णायाणं xxx चेइआइ"-स० पृ० ११६) (३) "उवासगइसासु णं उवासगाणं xxx चेइयाइं'-(स० पृ० ११९) (४) x अंतगडाण xxx चेइयाइ)-(स० पृ० १२१) (५) "अणुत्तरोववाइयाणं x चेइयाइं"-स० पृ० १२२) तथा (६) दुहविवागाणं x चेइयाइं, सुहविवागाणं चेइयाइ" स० पृ० १२५) इन पाच स्थानो मे चैत्य शब्द का उपयोग किया गया है। समवायाग सूत्र मे एक ऐसा प्रकरण है कि जिसमें बारह अंगों में दिये हुये विषयों की सूचि दी हुई है। वहा पर ही ये पूर्वोक्त पांचों उल्लेख भी दिये हैं। उन मे बतलाया है कि ज्ञाताधर्म कथा सूत्र में ज्ञातों के चैत्य, उपासक दशा सूत्र मे उपासको के चैत्य, अतकृद्दशा सूत्र मे अतकृतो के चैत्य, अनुत्तरोपपातिकदशा सूत्र मे अनुत्तरौपपातिको के चैत्य और विपाक सूत्र में दु ख विपाक वालों के एव सुख विपाक बालो के चैत्य बतलाये है"। इन उल्लेखो मे भी चैत्य शब्द का वही प्रधान अर्थ चिता पर चिना हुआ स्मारक ही घट सकता है। अर्थात् ज्ञातशब्द का टीकाकार द्वारा किया गया उदाहरण अर्थ यदि मान भी लिया जाय तो ज्ञातो के चैत्यो का अर्थ इस प्रकार होता है– ज्ञाता सूत्र मे जिसके उदाहरण दिये हैं उसके चैत्यो का भी उसमें वर्णन किया है और वे चैत्य चिता पर चिने हुये स्मारक के सिवाय अन्य संभवित नही होते। इसी तरह उपासक दशा सूत्र में निरूपित उपासको के चैत्य, अकृद्दशा सूत्र मे वर्णित अंतकृत पुरूषो के चैत्य, अनुत्तरौपपातिक सूत्र में उल्लिखित अनुत्तर विमान गामियों के चैत्य और विपाक सूत्र में दर्शाये हुये उन २ दुखी और सुखी पुरूषो के चैत्य बतलाये हैं। इस समस्त उल्लेखो का समन्वय भी ज्ञातो के चैत्यो के समान ही हो सकता है और समन्वय का यही प्रकार तथ्य एव इष्ट भी है। टीकाकारने इस उल्लेख के चैत्यशब्द को व्यन्तरायतन वाची कहा है, जो हमारी व्याख्या के अनुकूल होता है। (स० पृ० ११७-११९-१२१-१२२-१२६) परन्तु यह अर्थ इस प्रकरण में संगत

नहीं होता। पाठक स्वयं ही विचार सकते हैं कि ज्ञातों के व्यन्तरायतन उपासकों के व्यन्तरायतन अतकृतों के व्यन्तरायतन और अनुत्तर विमानगामियों के व्यन्तरायतन, इत्यादि वाक्यो का क्या अर्थ हो सकता है? कुछ भी नहीं। ऐसा अर्थ करने से यहां पर टीकाकारके किये अर्थ की उपेक्षा करके हमें वही प्रसिद्ध अर्थ घटाना चाहिये।

(७) "एएसि ण चउवीसाए तित्थगराणं x चउब्बीसं चेइय रुक्खा भविस्संति"- (स० पृ० १५४) अर्थात् ये चौबीस ही तीर्थकरो के चौबीस चैत्य वृक्ष होंगे। यहां पर नियोजित किया हुआ चैत्यवृक्ष शब्द भी अपने स्मारक या निशानवाले अर्थ को ही सूचित करता है। टीकाकार महाशयने भी यहां तो इसी अर्थ की पुष्टी की है। वे बतलाते हैं कि "चेइयरुक्खा-बुद्धपीठ वृक्षा, येषामधः केवलानि उत्पन्नानि इति" (स० पृ० १५६) अर्थात् जिन वृक्षों के नीचे पीठ बांधा हुआ है-चौंतरा वगैरह चिना हुआ है और जिनके नीचे तीर्थकरो की केवल ज्ञान प्राप्त हुआ है उन वृक्षो को चैत्यवृक्ष कहा है। तीर्थकरो को प्राप्त हुये केवल बोधके स्मारक रूप पीठबद्ध वृक्ष ही यहां पर चैत्यवृक्ष समझने चाहिये। इसी प्रकार सूत्र कृताग, स्थानाग और समवायाग सूत्र के चैत्य शब्द से लगते हुये समस्त उल्लेख उसके उसी प्रधान और प्राचीन अर्थ का समर्थन करते हैं तथा अन्य भगवती आदि अगो मे भी इस विषय मे ऐसा ही अभिप्राय प्रदर्शित किया है और वह इस प्रकार है (५) भगवती सूत्र मे चैत्य शब्द का उपयोग (१) "असुर कुमाररण्णो x सभाए सुहम्माए माणवए चेइए खंभे वइरामएसु गोवट्टसमुगए, बहूओ जिणसकहाओ संणिक्खित्तओ चिट्ठति" (अजीम पृ० ८७७) यह उल्लेख पूर्वोक्त समवायाग सूत्र के उल्लेख से मिलता जुलता है और इसका अर्थ भी उसके ही समान है। यहा भी श्री जिनेश्वर भगवान की हड्डिया वज्रमय गोलडब्बे मे भरकर चैत्यस्तभ में रक्खी हुई हैं। टीकाकार भी चैत्यस्तभ के इस भाव को समर्थन करते है। अत यहा पर नियोजित किया हुआ चैत्यस्तभ शब्द अपने मूल और पुराने अर्थ को सूचित करता है, यह बात निर्विवाद है। तथा (२) "चेइयाइ व दइ' (अजीम पृ० १५०७ - १५०८ - १५०९) (३) "अरहतचेइयाणि वा" अजीम पृ० २४६-२५६) (४) "देवय चेइय" (अजीम पृ० १५१-२१८-८७७-१२४६) (५) "चेइयमहे" अजीम पृ० ७९९) इन चारों उल्लेखो मे भी चैत्यशब्द के उसी भाव का समन्वय करना समुचित मालूम होता है जो उसका मुख्य और प्राचीन भाव है। इसके उपरान्त निम्नलिखित सभी स्थानो मे चैत्य शब्द का उपयोग व्यन्तरायतन (व्यन्तरके रहने का स्थान) के अर्थ मे किया गया है। (६) "गुणसिलए चेइये" (अजीम पृ० ५-१४८-१८२-१९१-१९२-४०९-५११-५१४-६२२-१३०५-

१३८१-१४०४-१४१४) (७) "छत्तपलास. चेइये" (पृ० १५३-१६४) (८) "पुफ्फवईए चेइये" पृ० १८२-१८६-१८९-१९०-१९२-८३६) (९) "नंदणे चेइए" (पृ० २११-२२५) (१०) "पुणणभदे चेइए" (पृ० ३०९-८३८-८४२-११२४-११२७) (११) "माणिभदे चेइए" (पृ(७१३) (१२) "दूइपलासे चेइए" (पृ(७३८-८७०-९३४-१४२२) (१३) "बहुसालए चेइए" (पृ० ७८७-७८८-७९३-७९६-८०-८०२-८०४-८३१-८३४-८३७) (१४) "कोट्ठए चेइए" (पृ० ८३८-८४२-९७७-९७८-१२००-१२३३-१२३६-१२५०-१२५३-१२६५) (१५) "सखवणे चेइए" (पृ० ९७०-९७४) (१६) "चंदोत्तरायणे चेइए" (पृ० ९८७) (१७) "मंडिकुच्चिंसि चेइए" (पृ० १२४२) (१८) "चंदोयरणंसि चेइए" (पृ० १२४२) (१९) "कंडियायणंसि चेइए" (पृ० १२४३) (२०) "सालकोट्ठयए चेइए" (पृ० १२६५-१२६६-१२६८-१२७०) (२१) "एगजबुए चेइए" (पृ० १३१०-१३१३)

भगवती सूत्र मे सब जगह दिये हुये पूर्वोक्त चैत्य शब्द का अर्थ टीकाकार ने भी व्यन्तरायतन ही समजने का आग्रह किया है। वे लिखते हैं कि "चितेभांव. कर्म वा चैत्यम् तच्चेह व्यन्तरायतनम्, नतु भगवता मर्हतामायतनम्" (पृ० ५) प्रसिद्ध कोशकार श्री हेमचन्द्र सूरिजी लिखते है कि "चिति-चित्या-चितास्तुल्या·" (मार्त्यकाण्ड ३९) चिति चित्या और चिता, ये तीनो ही शब्द समानार्थक हैं, और इन तीनों का अर्थ 'चे' होता है। ऊपर बतलाये हुये टीका के उल्लेख मे टीकाकारने इस चिति शब्द ही उपयोग किया है और ऐसा करके यहां तो 'चत्य' शब्द की उत्पत्ति, व्युत्पत्ति, प्रवृत्ति और अर्थ सब कुछ प्राचीन और प्रधान बतलाया है। अर्थात् इस उल्लेख ने चत्य के प्रधान एव यौगिक अर्थ को ही दृढ़ किया है और चैत्य शब्द को लोक प्रवाह से मुक्त करके स्वतत्र कर दिया है।

यह बात तो मैं प्रथम ही सूचित कर चुका हूँ कि ज्ञाताधर्म कथा सूत्र एवं अन्य अगसूत्रो मे भी जहा २ पर चैत्य शब्द का उपयोग किया गया है वहां प्राय विशेषत उसका व्यन्तरायतन अर्थ किया है। उन सूत्रो मे जिन २ स्थानो मे वह शब्द नियोजित किया गया है वे स्थान नीचे मुजब हैं।

(६) ज्ञाताधर्म कथा सूत्र- (१) "पुणभद्दे चेइए" (समिति पृ० ३-७-१९३-२२२-२५२) (२) "गुणसिलए चेइए" (समिति पृ० ११-३९-४६-५५-७१-७८-२४१-२४६-२५१) (३) "अंबसालबणे चेइए" (समिति पृ० २४८) (४) "कोट्ठए चेइए" (समिति पृ० २५१) (५)

''काममहाबणे चेइए'' समिति पृ० २५१) और ६ ''देवयं चेइयं पज्जुवासवाणिज्जे'' (समिति पृ० २४५)।

(७) उपाशकदशा सूत्र (१) ''पुण्णभद्दे चेइए'' (समिति पृ० १-१९) (२) ''दुइपलासए चेइए'' (समिति पृ० १-१३-१८) (३) ''कोट्ठए चेइए'' (समिति पृ० ३१-३४-५३) (४) ''गुणसिले चेइए'' (समिति पृ० ४८) इस सातवें अगसूत्र मे उपरोक्त चारों उल्लेखों में नियोजित किया हुआ चैत्यशब्द व्यन्तरायतन को सूचित करता है और इनके बाद के दो उल्लेखो में उस शब्द का अनुक्रम से साधारण चैत्य और अरिहंत चैत्य अर्थ है। वे उल्लेख ये हैं, 'देवयं चेइय, (समिति पृ० ४०) (६) ''अरिहं चेयाणि वा, (समिति पृ० १२) अर्थात् इस अंग का एक भी उल्लेख चेत्य शब्द के मुख्य और प्राचीन अर्थ का व्यभिचरण नही करता।

(८) अंतकृद्दशा सूत्र मे (१) ''पुण्णभद्दे चेतिए भांडारकर इन्स्टीच्यूट लि० १०७९ पृ० १-१६-१८ (२) ''गुणसिलते चेतिते'' पृ० १३-१४-१६-) (३) ''काममहावणे चेतिए'' (पृ० १६) ये उल्लेख भी व्यन्तरायतन के अर्थ को समर्थन करते हैं।

(९) अनुत्तरौपपातिकदशा (१) ''गुणसिलए चेतिए'' (भाडा लि० १२० पृ० २७-२९) यह लेख भी इस प्रकार का है।

(१०) प्रश्नव्याकरण सूत्र मे (१) ''पुण्णभद्दे चेइए'' (समिति पृ० १)(२) ''भवण-घर-सरण-लेण-आवण-चेतिय देवकुल-चित्तसभा-पवा-आयतण-आवसह-भूमिघर मडवाण य कए'' (समिति पृ ९३) इस प्रकारण में जिन २ निमित्तो से हिसा होती है उन सबका नाम निर्देश किया हुआ है, उसमें अन्यनामो के साथ २ चैत्य का भी उल्लेख किया हुआ है और साथ ही देवकुल का उल्लेख.होने से इस जगह का चैत्यशब्द चिता पर चिने हुये स्मारक को ही सूचित करता है। तदुपरान्त (२) ''चेतियाणि'' (समिति पृ० ९३ और (३) ''तबस्सिकुल-गुण-सघ-चेइयट्ठे'' (समिति पृ० ११२) इस प्रकार के भी दो उल्लेख मिलते हैं। इन मे पहले उल्लेख मे चैत्यो को ~~देवों के~~ परिग्रह स्वरूप सूचित किया है। स्वर्ग मे भी श्री जिनभगवान की अस्थिया पहुच गई है? याने वहा पर उनके स्मारक चैत्य का होना सभव है। दूसरा उल्लेख चैत्य की रक्षा करना बतलाया है। इस प्रकार ये दोनो उल्लेख किसी धर्मवीर के स्मारक चिन्ह सिवा किसी अन्य अर्थ को सूचित नही कर सकते।

(११) विपाकसूत्र मे (१) (पुण्णभद्दे चेइए पृ० १) (२) ''गुणसिलाएचेइए'' (पृ० १०३) इन दोनो उल्लेखो का चैत्यशब्द भी उसी व्यन्तरायतन को

द्योतित करता है जिसके विषय में पहले बहुत कुछ लिखा जा चुका है। मुझे यह मालूम नहीं होता कि पूर्वोक्त प्रकार से ग्यारह अगो में उपयुक्त किया हुआ चैत्यशब्द अपने प्राचीन एव प्रधान अर्थ को प्रकाशित करने मे जरा भी पीछे हटता हो या उसका वह अर्थ कहीं भी असगत होता हो। भारत के प्राचीन वास्तुशास्त्री श्री वराहमिहिरने अपनी वृहत्संहिता के वास्तुविद्या नामक २५ वें अध्याय में लिखा है कि "चत्ये भय ग्रह कृतम्, ग्रहा भूतानि" पृ० ६८७) अर्थात् यदि कोई गृहस्थ चैत्य के पास अपना घर बनवायें तो उसे भौतिक भय होने का संभव है। इससे यह बात विशेष दृढ़ होती है कि चैत्यकी जगह मे भूतो का वास होना सभवित है और इस पर से उसका सामीप्यजन्य सूत्रो में जगह २ जो व्यन्तरायतन नाम बतलाया है उसकी युक्तता मे विवाद मालूम नही देता, एव चैत्यशब्द में प्राचीन तथा प्रधान अर्थ को- चितापर चिने हुये स्मारक स्तूपरूप अर्थ को भी कुछ बाधा नही पहुचती।

अब मैं चैत्य के प्राचीन अर्थ को ही दृढ बनाने के लिये कितनेक प्रसिद्ध २ कोशो के प्रमाण देता हूँ– पाली भाषा के सुप्रसिद्ध कोश मे चैत्य शब्द के सम्बन्ध मे लिखा है –

Chaityam—A religious Building or shrine, a temple, a thupa or Raddhist relic Shrine, a sacred tree, tomb (चैन्य)

Dictionary of

THE PALI LANGUAGE BY CHILDERS

P 102

६ 'चैत्य जिनौक, तद्बिम्बम्, लिखने वाले श्रीहेमचद्र सूरिजी भी चैत्य शब्द के विषय मे लिखते है कि 'चित्य मृतकचैत्ये स्यात्' (अनेकार्थ० द्विस्वर० ३६६) इस उल्लेख मे उन्होने मृतक चैत्य शब्द ग्रहण करके चैत्य शब्द के उसी अर्थ का उपयोग किया है जो उसका प्राचीन और प्रधानार्थ है।

७ 'वाचस्पत्यभिधान नामक विशालकाय कोश मे इस शब्द के सम्बन्ध मे निम्न प्रकार से लिखा है "चैत्य न० चित्याया इदम् + अण्, 'सेतु वल्मीक-निम्नास्थि चैत्याचैरूपलक्षिता' (याज्ञवल्क्य स्मृति)।

८ 'शब्दकल्पद्रुम नामक प्रसिद्ध कोश मे चैत्य शब्द के विषय मे निम्न उल्लेख उपलब्ध होता है 'चैत्य न० पृ० चित्यस्य इदम्' "यत्र यूपा मणिमयाश्चैत्याश्चापि हिरण्मयाः" (महाभारत)।

९ 'बंगलाभाषा अभिधान, नामक बंगाली कोश में चैत्य शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है "चैत्य (चत) स्मृतिस्तंभ, चित्ताश्मशान + य (इदमर्थे यत्) पु० रव्वा (राख) किंवा श्मशान पार्श्वस्थ बोद्धगणेर-गणवा पूज्यवृक्ष, श्मशानतरू, चिता सम्बन्धीय।

इस प्रकार चैत्य शब्द का मैंने जो अर्थ साबित करके बतलाया है मैं अनुमान करता हूँ कि उसमें पाठकों को अब किसी तरह का संशय, विपर्य या भ्रम रहने का अवकाश नहीं रहता। जैन सूत्रों ने और अन्यान्य प्रामाणिक शब्दकोशों ने भी इसी अर्थ को प्रधान भाव से स्वीकृत किया है। अभी तक भी मेरे श्रद्धालु जैनीभाई इस सम्बन्ध मे इस तरह का सशय कर सकते हैं कि जैनधर्म में इस प्रकार के स्तूप करने का रिवाज श्रद्धा विवेचक दृष्टि के समक्ष संशय करती ही रहती है और वह विवेचक दृष्टि धीरे २ उसके सशयो को छेदती जाती है। लीजिये मैं वैसे प्रमाण देने को भी तैयार हूँ और तदर्थ एक से अधिक प्रमाण, सो भी आपके मान्य सूत्रग्रन्थो के उल्लेख आपके सामने रखता हूँ—

जबूद्वीपप्रज्ञति (अजीम पृ० १४०-१४७) "तएण से सक्के देविदे देवराया +++ भवणबइ-बाणमतर-जोइस वेमाणिए देवे एव वयासी+तओ चिइगाओ रएह x तित्थगरचिइगाए, गणहरचिइगाए, अणगारचिइगाए अगणिकाय विउव्वह x खीरोदगेण णिव्वावेह x तए ण सक्के भगवओ x दाहिण सकह गेण्हइ" (इत्यादि) "तएण से सक्के x वेमाणिए देवे जहारिय एव वियासी x भो देवा णुप्पिया ! सव्वरयणामये महए महालये, तओ चेइयथूभे करह-एग भगवओ तित्थगर स्स चिइगाए, एग गणहरचिइगाए, एग अवसेसाण अणगाराण चिइगाए x तए ण ते x करेंति x तए ण जेणेव साइं साइ भवणाणि, x सगा सगा माणवगा चेइयक्खभा, तेणेव x उवागच्छित्ता वइरामएसु गोलसमुग्गएसु जिणसकहाओ पक्खिवंति"

इस उल्लेख मे श्रीजिनभगवानों के निर्वाण प्रसग का वर्णन किया है। उसमें बतलाया है कि "देवेन्द्र। देवराज शक्र ने देवताओ से कहा कि तीन

१ सूत्रकार और टीकाकारो का ऐसा ख्याल है कि महावीरभगवान की प्रत्येक क्रिया प्रधानतया देवो द्वारा कराई जाय तो उनकी विशेष बडाई हो, इसी धारणा से उन्होंने भगवान महावीर की हड्डिया तक भी स्वर्ग मे पहुचा दी। भक्तिआवेश जन्य इस ख्याल का आज यह भीषण परिणाम उपस्थित हुआ है कि वर्तमान काल के मनुष्य, मानवजाति में उत्पन्न हुये श्री महावीर जैसे समर्थ व्यक्ति को भी नही पहचान सकते। मै प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि किसी स्वर्गवासी मनुष्य भले ही श्री महावीर को पहचाना हो, परन्तु हमे तो उनकी असली पहचान कराने का किसी ने प्रयत्न ही नही किया।

चितिका चे बनाओ, एक तीर्थंकर की, दूसरी गणधरों की और तीसरी सब साधुओं की। उसमें अग्नि प्रगट करो और बाद मे जले से ठडी करो। फिर उन शक्रादि देवो ने यथोचित रीत्या उस पवित्र भस्म मे से श्रीजिन्भगवानों की अस्थियां चुन ली (इत्यादि) इसके बाद शक्रेन्द्र ने आर्यरीत्यनुसार देवताओ से कहा कि हे देवो ! तुम बडे से बड़े रत्नमय तीन स्तूप रचो, एक तीर्थंकर की चिता पर दूसरा गणधरो की चिता पर और तीसरा साधुओ की चिता पर ! देवों ने शक्र की आज्ञानुसार वहाँ पर तीन स्तूप बनाये और फिर वे देव अपने २ स्थान पर चले गये। अपने स्थानो मे जाकर उन अस्थियो को गोल डब्बे में रखकर उन्होने वे गोल डब्बे अपने २ चैत्यस्तभ मे रक्खे'। टीकाकार भी इसी अभिप्राय का समर्थन करते है। ततश्चितिकानिर्वापणदनु भगवतस्तीर्थकरस्य xx सक्थि शक्रो गृह्णति x विद्याधराश्चिताभस्मशेषामिव गृह्णन्ति x भस्मानि गृहीते अखातायामेव गताया जाताया मा भूत् तत्र पामरजनकृताशातनाप्रसंग', सातत्येन तीर्थप्रवृत्तिश्च स्यादिति स्तूपविधिमाह त्रीन् चैत्य स्तूपान कुरूत चितात्रयक्षितिषु इत्यर्थ" (अजीम० पृ० १४०-१४७) जो भाव उपर्युक्त मूल पाठ मे बतलाया है उसी भाव का अक्षरानुवाद टीकाकार ने किया है। इतना विशेष दर्शाया है कि भगवान के दाहस्थान की आशातना न हो और निरन्तर तीर्थप्रवृति हो इसी कारण चितास्थान पर चैत्यस्तूप बनाये जाते है। इस प्रकार टीकाकार ने चैत्य शब्द के प्रधानार्थ की पूज्यता भी बतलाई है। इसी तरह का एक दूसरा उल्लेख ज्ञाताअग सूत्र की टीका जो समिति द्वारा छपी है पृ० १५५ मे मिलता है, उसे पाठक स्वय देख ले।

अब तो पाठको का मन ठडा हो गया होगा, चैत्य शब्द के प्रधान अर्थ के विषय मे एव जैनी पद्वति के सम्बन्ध मे भी पूर्वोक्त अनेक प्रमाणो द्वारा उसकी असलीयत को पाठक भली भाँति समझ गये होगे। अब मैं आपको यह बात भी स्पष्टतया कह देना चाहता हूँ कि इस चैत्य शब्द के प्रधानार्थ मे ही मूर्तिपूजा की जड समाई हुई है। मूर्ति का मूल इतिहास चैत्य से ही प्रारभ होता है और मूर्ति का प्रथम आकार भी चैत्य ही है। वर्तमान समय मे जो मूर्तिया देख पडती है वह उत्क्रान्ति की दृष्टि से विकाश को प्राप्त हुई एक प्रकार की शिल्प कला का नमूना है। जो मूर्तिया श्वेताम्बर जैनियों के अधिकार में हैं उनका सौन्दर्य और शिल्प उन्होने बनावटी तिलक व चक्षु-आंखे लगाकर तथा इसी प्रकार के अन्य शिष्ट असंगत और अशास्त्रीय और अशास्त्रीय आचरणों द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर डाला है। तथापि वे मूर्तिपूजकता का दावा करते हैं, मैं इसे धर्मदंभ और ढोंग समझता हूँ। अपने पूज्य देव की मूर्ति को पुतली के समान अपनी इच्छानुसार नाच नचाते हुये भी

उसकी पूजकता का सौभाग्य इसी समाज ने प्राप्त किया है? अपने इस समाज की ऐसी स्थिति देखकर मूर्तिपूजक के तौर पर मुझे भी बड़ा दुःख होता है।

मैं पहले एक प्रमाण में यह बतला चुका हूँ कि हमारे पूर्वजों ने चैत्यों को पूजने के लिये नही बल्कि उस मरने वाले महापुरूषों की यादगार के तौर तर निर्माण किये थे। परन्तु बाद मे उनकी पूजा प्रारंभ हो गई थी और वह आज तक चली आ रही है। जो मनुष्य पदार्थ के विकाश क्रम के इतिहास को समझ सकता है वही पूर्वोक्त विषय को सहज में समझ सकेगा। परन्तु जिसके मन में वर्तमान धर्म, उसके वर्तमान नियम और उसमे पूर्वापर से घुसी हुई कितनी एक असगत रूढ़ियां एवं वर्तमान मूर्तिपूजा वगैरह अनादि कालीन भासित होता होगा, राजा भरत के समय का प्रतीत होता होगा उसे तो मैं शास्त्र पढ़ने का निवेदन करने के सिवा अन्य कुछ नही समझा सकता। आप इस बात को भली प्रकार जानते हैं कि बढका बीज कितना सूक्ष्म और हलका होता है, परन्तु समय पाकर अनेक प्रकार के अनुकूल संयोग मिलने से वही बीज ऐसा रूप धारण कर लेता है कि जिसकी कल्पना करना भी हमे कठिन प्रतीत होता है। पहाडों से निकलने वाली नदियें छोटे से श्रोत के रूप मे जन्म लेती हैं, परन्तु ज्यो २ वे अपने जन्मस्थान से अधिक दूरी पर आती जाती है। त्यो २ अधिकाधिक बढती हई भयानक प्रवाह वाले रूप को धारण कर लेती है, इसी तरह हर एक पद्धति जिसका प्रारभ बिलकुल सादा और अमुक हेतु पर अवलम्बित होता है वह समय पाकर इतना बडा और विचित्र रूप धारण कर लेती है कि जिससे हमे उसकी प्रारंभिक स्थिति को समझना या समझाना बडा कठिन मालूम होता है। जो चैत्य यादगीरी के लिये बनाये गये थे समय पाकर वे पूजे जाने लगे, उनमें चरण पादुकायें देव कुलिकाये होने लगी, उनमे चरण पादुकायें स्थापित होने लगीं और बाद में भक्तजनो की होश से भक्ति आवेश से उन्ही स्थानो में बडे २ देवालय एवं बडी २ प्रतिमाये भी विराजित होने लगी। यह स्थिति इतने मात्र से ही न अटकी, परन्तु अब तो गाव गाव मे और गाव मे भी मुहल्ले मुहल्ले मे वैसे अनेक देवालय बन गये है एव बनते जा रहे हैं। ऐसा होने से मेरी समझ के अनुसार – 'अतिपरिचयाद् अवज्ञा' हो रही है, क्योंकि अब तो जहाँ पर देवालय बनाया जाता है, देवालय बनाने वाला भक्त कोई विरला ही वहाँ के स्थान सौन्दर्य या वातावरण सौन्दर्य की ओर ध्यान देता है, इस बात की तरफ लक्ष्य ही नही किया जाता। बडे २ शहरों में मैंने ऐसे भी देवालय देखे हैं जो घनी वस्ति के बीच अशान्त प्रदेश मे उपस्थित है और जिनके सामने ही भक्तजनों के संडास-टट्टियां एव पेशाबघर सुशोभित हो रहे हैं। बम्बई में श्री गोडीपाश्र्वनाथ जी के मंदिर के पीछे बिलकुल लगते हुये हमारे गौतमावतारों के? सडास और पेशाब के

स्थान मैंने स्वय अपनी आखो से देखे हैं। जिस जगह में खड़ा होने से भी निरोगी मनुष्य का आरोग्य खराब होता हो वैसी जगहों में मंदिर बनवा कर जिन भक्ति करने वालों का यह साहस सर्वथा अवर्णनीय है। इस प्रकार की जिन भक्ति तो इन्द्रो को भी नसीब न हुई होगी !! जिन पाठकों को चैत्यों के प्राचीन आकार देखने हो उन्हें बम्बई के समीपस्थ कार्ला तथा बोरीवली की गुफाये देख लेने की जरूरत है। ज्यो २ चैत्य के आकार बदलते गये त्यो २ उसके अर्थ भी बदलते गये। प्रारभिक चैत्य शंब्द अन्वर्थ था और आजकल का चैत्य शब्द रूढ है, क्योकि उसे अपना मूल अर्थ छोडकर लोगों की इच्छानुसार चलना पडता है। इसके सिवा साहित्य मे अन्य भी कई शब्द बढ़ गये है जो मूल मे अन्वर्थ थे और बाद मे रूढ़ी के वश हो गये है।

चैत्य शब्द का प्रारभिक अर्थ चिता पर चिना हुवा स्मारक चिन्ह था। जब उस जगह मे उस स्मारक को कायम रखने के लिये या पहचान कराने के लिये पाषाणखण्ड या शिलालेख रक्खा जाता था तब चैत्य का अर्थ पाषाणखण्ड या शिलालेखर भी हुवा। जब उसस्मारक चिन्ह के बदले या उसके ऊपर किसी वृक्ष को रोपित किया जाता उस वक्त चैत्य का अर्थ वृक्ष-चैत्य वृक्ष हुवा, जब उस स्मारक चिन्ह के पास यज्ञादि पवित्र क्रियाये की जाती थी उस समय चैत्य का अर्थ यज्ञस्थान भी भी हुआ है (देखो समितिवाला औपपातिकसूत्र की टीका में चैत्य का वर्णन तथा अमरकोश वाला चैत्य शब्द) जब उस स्मारक चिन्ह को देवकुलिका के आकार मे बनाया जाता था उस वक्त चैत्य का अर्थ देवकुलिका (देहरी) हुआ, जिस समय उस जगह चिनी हुई देवकुलिका मे पादुकाये पधराई जाने लगी उस समय चैत्य का अर्थ पादुका सहित देवली या मात्र पादुका हुआ। जब उस जगह भव्य मदिर चिना जाने लगा और उसमे मूर्तिया पधराई जाने लगी तब चैत्य का अर्थ देवालय या मूर्ति किया गया। अभी तक चैत्य शब्द अन्वर्थ रहा। परन्तु जब चितादाह के सिवा स्थानान्तरो मे देवालय चिने गये या उनमे मूर्तिया स्थापित की गई तब वह रूढ़ हुवा, डिन्थ, के समान सज्ञा शब्द बन गया और आरभ मे मात्र सदृश्य से एव आजकल केवल लौकिक सकेत मे चैत्य अर्थ मदिर या मूर्ति हो गया है। इस प्रकार परिस्थिति के अनुसार चैत्य शब्द के अनेक अर्थ परिवर्तित हुए है, उन सबका मिलान करने पर साधारणत उसके सात अर्थ होते है और वे इस प्रकार हैं।

१ चैत्य-चिता पर चिना हुवा स्मारक चिन्ह, चिता की राख। २ चिना ऊपर का पाषाणखण्ड, डला या शिलालेख। ३ चिता पर का पीपल या तुलसी आदि का पवित्र वृक्ष। (देखो, मेघदूत, पूर्वमेघ श्लोक २३)। ४ चिना

पर चिने हुये स्मारक के पास का यज्ञस्थान वा होमकुण्ड। ५ चिता के ऊपर देहरी के आकार का चिनवा, स्तूप, साधरण देहरी। ६ चिता पर की पादुका वाली देहरी या चरणपादुका। ७ चिता पर का देवालय या विशालकाय मूर्ति।

इन सातो में चैत्य के पहले पाँच अर्थ उस की व्युत्पत्ति को सुशोभित करते है और अन्त के दो रूढ़ीजन्य अर्थ चैत्य की व्युत्पत्ति से बड़ी दूर रहते हैं। अर्थात् वे लाक्षणिक और रूढ़ हैं एव शब्दानुगामी न होने के कारण वे अर्थ निरर्थक जैसे हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ वहाँ तक एक २ अर्थ का सर्व व्यापी प्रचार होते हुये और एक २ अर्थ का सर्व व्यापी विनाश होते हुये कम से कम सौ २ या दो २ सौ वर्ष तो अवश्य बीते होगे। चैत्य शब्द का प्रचलित देवालय या मूर्ति अर्थ छठा और सातवाँ होने से वह बिलकुल अन्तिम आधुनिक है यह बात हम ऊपर दिये हुये प्रमाणों से अच्छी तरह समझ सके हैं। इससे आचार्य श्री[1] हरिभद्रजी के उल्लेख या आचार्य श्रीहेमचद्रजी के[2] कोश के आधार से चैत्य शब्द का अन्तिम अन्त नही आ सकता। वे तो अपने समय के प्रचलित अर्थ को ही अपने ग्रन्थो मे लिख सकते हैं। इससे मेरा तात्पर्य यह नही है कि उनका बतलाया हुआ अर्थ असत्य है। मुझे तो अन्य अर्थो के समान वह अर्थ भी मान्य है, परन्तु इस विषय मे मुझे इतना ही कहना है कि प्रचलित देवालय या मूर्ति यह कोई चैत्य शब्द का प्रधानार्थ या

१ 'चेइयद्दो रूढ़ो 'जिणिदपडिम' ति अत्थओ दिट्ठो' (सबोध प्रकरण, देवस्वरूप, श्लोक ३२८ पृ० ९२) अर्थात् चैत्य शब्द का जिनेन्द्र प्रतिमा रूढ अर्थ है। हरिभद्र सूरिजी ने अपने ललित विस्तरा नामक ग्रन्थ मे (पृ० ७६-७७) चैत्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये बतलाया है कि चित्तम्-अन्त करणम्, तस्य भावस् कर्म वा (वर्णदृढादिलक्षणे प्यञ्ि कृते) चैत्य भवति" परन्तु इस प्रकार की व्युत्पत्ति शब्द शास्त्र की दृष्टि से घट नही सकती, क्योकि चैत्य शब्द मे डबल त्त सभवित नही होता (वे स्वय भी तो चैत्य भवति का उल्लेख करते हुये एक त वाला ही चैत्य शब्द लिखते हैं) और इस हरिभद्रीय व्युत्पत्ति के अनुसार तो दो त्त वाला अर्थात् चैत्य शब्द बनता है। यदि चैत्य शब्द को दो त्त वाला मान भी लिया जाय तो फिर हेमचन्द्र जी के 'त्याऽचैत्ये' ८-२-१३ सूत्र मे उसका वर्जन सभवित नही होता, क्योकि वह सूत्र एक त वाले त्य का ही 'च करता है इस कारण। २ चैत्य जिनौक तद्बिम्बम् चैत्य के द्वित्ततकार को च की प्राप्ति ही नही है, अत हेमचन्द्र जी की साक्षी से चित्त परसे चैत्य, की साधना योग्य नही है, तथा किसी कोश मे भी इस तरह की व्युत्पत्ति देखने मे नही आती। फिर खूबी इस बात की है कि इस व्युत्पत्ति का अर्थ भी तो प्रचलित अर्थ में सघटित नही होता। कितनेक तो 'चित्तम् आह्लादयति तत् चैत्य? इस तरह की व्युत्पत्ति करके व्युत्पत्ति के अनुकूल अर्थ लेते हैं, परन्तु चित्त शब्द से चैत्य शब्द बन ही नही सकतायह बात तो अभी साबित हो चुकी है। श्री अभयदेवसूरिजी ने एव जबूद्वीप प्रज्ञति के टीकाकार ने कितनीएक जगह (देखो-समिति स्थानागसूत्र की टीका० पृ० २३२, और जबूद्वीप प्रज्ञति की टीका० पृ० १४०-१४७) ऐसी व्युत्पत्ति करके शब्दशास्त्र की विराधना की है।

मूल प्राचीन अर्थ नहीं है, इतना ही नहीं बल्कि ये दोनों अर्थ बिलकुल पीछे के और रूढ़ि से किये हुये हैं। सूत्रों की टीका करने वालो ने भी सूत्रों में आये हुये चैत्य शब्द की व्युत्पत्ति (चितेर्भावः कर्मवा) तो यथार्थ बतलाई है, परन्तु जहाँ पर 'अरिहंत चेइयाइ, या केवल 'चेइयाइं' आता है वहाँ उन्होंने उसकी व्युत्पत्ति जन्य वास्तविक और प्रधान अर्थ न करके मात्र अपने समय की लोक रूढ़ी का अनुसरण किया हो ऐसा मालूम होता है। ऐसा होने से चैत्य के छठे एवं सातवे अर्थ को बतला कर ही उन्होंने रास्ता पकड़ा है। उन्होंने चैत्य का अर्थ करते हुये बहुत सी जगह बतलाया है कि ''संज्ञाशद्वत्वात् देवविम्बम्, तदाश्रयत्वात् तद्गृहमपि चैत्यं, भगवती सूत्र अजीम० पृ० ५ रायपसेणीसूत्र अजीम० पृ० ४) अर्थात् चैत्य शब्द सज्ञा शब्द है इससे उसका अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार न करके रूढ़ी के अनुसार लेना चाहिये और वह देवबिम्ब या देवगृह है। टीकाकारो के इस उल्लेख से पाठक समझ सकते हैं कि उनका किया हुआ अर्थ परपरागत उनके समय का रूढ़ अर्थ है। इस तरह अर्थ करने का प्रकार भी एक प्रकार का साहित्य विकार ही है और वर्तमान समय में प्रचलित मूर्तिवाद के नाम पर चढ़ा हुवा कलह भी इस विकार का ही परिणाम हो यह स्पष्ट मालूम होता हैं। मेरी मान्यता है कि किसी भी टीकाकार को टीका करते समय मूल के आशय को मूल के समय के वातावरण को ही ध्यान मे लेकर स्पष्ट करना चाहिये। इस प्रकार की टीका करने वाला ही सच्चा टीकाकार हो सकता है, परन्तु मूल का अर्थ स्पष्ट करते वक्त मौलिक समय के वातावरण का ख्याल न करके यदि परिस्थितिका ही अनुसरण किया जाय तो वह मूल की टीका नही किन्तु मूल का मूसल जैसा हो जाता है। मैंने सूत्रो की टीका का अच्छी तरह अध्ययन किया हैं, परन्तु उसमें मुझे बहुत सी जगह मूलका मूसल किये सदृश प्रतीत होता हे और इससे मुझे बडा दुःख प्राप्त हुआ है। यहाँ पर इस विषय मे विशेष लिखना अप्रस्तुत है, तथापि समय आने पर 'सूत्र और उनकी टीका' इस सम्बन्ध मे ब्योरेवार उल्लेख करने के अपने कर्तव्य को कदापि न भूलूगा। फिर भी ऊपर बतलाये हुये श्रीशीलागसूरि द्वारा किये हुये आचारागसूत्र के कितनेक पाठो के उलट पलट अर्थों पर से और इस चैत्य शब्द के अर्थ से आप स्वय देख सके होगे कि टीकाकार ने अर्थ करने मे अपने समय को ही सामने रखकर कितना अधिक जोखम उठाया है। मैं मानता हूँ कि यदि टीकाकार महाशयो ने मूल का अर्थ मूल के समयानुसार ही किया होता तो जैन शासन मे जो आजकल मतान्तर देख पडते हैं वे बहुत कम प्रमाण मे होते और धर्म के नाम से ऐसा अमावस्या का अन्धकार कम व्याप्त होता। क्लेश मे सर्वत्र आग्रह ही राजा होता है और इसी कारण आज साहित्य के मूलसत्य धूल मे मिल गये हैं,

मिलते जा रहे हैं। परन्तु किसकी ताकत हैं कि साहित्य विकार को रोक कर मूल को वास्तविक रूप में कायम रख सके ? हा !!! मैं भूलता हूँ कि मूल तो सदा धूल में ही रहता है, अतः वह बिलकुल गल सड़ जाने के ही योग्य है और उसमें से प्रकृति देवी सुन्दर वृक्ष को जन्म देती है। वैसे ही हमारे सद्भाग्य से किसी सुन्दर वृक्ष की उत्पत्ति के लिये ही हमारे जीते जागते मूल-जड़ें सड़ रही हों तो यह संभवित और सुघटित है।

इस दूसरे मुद्दे की चर्चा से आपके ध्यान में यह बात आ गई होगी कि चैत्य और उसके प्राचीन एवं प्रधानार्थका स्वरूप क्या है ? उसमें परिस्थिति के अनुसार जो २ परिवर्तन हुए हैं और अन्त में उससे जो विकार पैदा हुआ है वह भी आपकी समझ में आ गया होगा। इतने से भी यदि आप साहित्यविकारजन्य अपने मूर्तिपूजा के अनादि वादके एकान्त को कुछ ढीला करेंगे और भगवान महावीर के अनेकान्त मार्ग पर दृष्टि रख कर अमूर्तिपूजकों के साथ प्रेमका वर्ताव करेंगे तो मैं अपने इस निबन्ध के लिये किये हुये जागरणों को भी सफल गिनने की उचित कामना करूंगा।

देवद्रव्यवाद।

मेरा तीसरा मुद्दा देवद्रव्यवाद नामक है, अब मैं उसका व्योरेवार प्रारंभ करता हूं। चैत्य वाद के साथ यह विषय घनिष्ट सम्बन्ध रखता है इसी कारण मैंने चत्यवाद पर प्रथम चर्चा की है और उसके बाद तुरन्त ही इस पर विचार करना उचित समझा है। जो यह मानते हैं कि जहा मूर्ति हो वहां देवद्रव्य भी अवश्य होना चाहिये, मेरी मान्यता से उनका यह मत अयुक्त है, तथापि कुछ देर के लिये हम उसे मान भी लें तो जिन कारणों से देवद्रव्य की अविहितता और अर्वाचीन कल्पना साबित हो सकती है वे कारण ये हैं- उपरोक्त चैत्यवाद की चर्चा से यह बात तो आप भली प्रकार जान सके हैं कि मूर्तिवाद चैत्यवाद के बाद का है याने उसे चैत्यवाद जितना प्राचीन मानने के लिये हमारे पास एक भी ऐसा मजबूत प्रमाण नहीं है जो शास्त्रीय सूत्रविधि निष्पन्न या एतिहासिक हो। यों तो हम और हमारे कुलाचार्य भी मूर्तिवाद को अनादि का ठहराने तथा महावीर भाषित बतलाने की बिगुल बजाने के समान बाते किया करते हैं परन्तु जब उन बातो को सिद्ध करने के लिये कोई एतिहासिक प्रमाण या अंगसूत्र का विधिवाक्य मांगा जाता है तब हम बगलें झाकने लगते हैं और अपनी प्रवाहबाही परम्परा की ढाल को आगे कर अपने बचाव के लिये बुजुर्गो को सामने रखते हैं। मैंने बहुत ही कोशिश की तथापि परम्परा और बाबा वाक्यं प्रमाणं, के सिवा मूर्तिवाद को स्थापित करने के सम्बन्ध में मुझे एक भी प्रमाण या विधान नहीं मिला। वर्तमान समय में मूर्तिपूजा के समर्थन में कितनी एक चारणमुनि, द्रौपदी, मूर्याभदेव और विजय देव की कथाये भी आगे लाई जाती हैं, किन्तु पाठकों को यह बात खास ध्यान मे रखनी चाहिये, कि विधिग्रन्थों में बतलाया जानेवाला विधि, आचारग्रन्थो मे बतलाया जानेवाला आचारविधान खास शब्दो मे ही बतलाया जाता है, परन्तु किसी की कथाओ मे से या किसी का आधार लेकर अमुक २ विधान या आचार पैदा नहीं किया जाता।

एक कथा मे उसके नायक ने जो अमुक प्रकार का आचारण किया हो वह सबके लिये विधेय या सिद्धान्तरूप नहीं हो सकता। उन लब्धिधारी मुनियो ने या अन्य किसी पात्रों ने चैत्यो को वन्दन किया वा जिन घर में जाकर पूजा की इससे हम इस प्रकार का सर्वसाधारण सिद्धान्त घडले कि उस समय के समस्त मनुष्य उस तरह का आचरण करते थे, यह सर्वथा असंगत है। थोड़े

से व्यक्तियों का आचार किसी प्रकार के स्पष्ट विधान बिना सर्वसाधारण का आचार नहीं हो सकता। यदि व्यक्तियों के आचरण पर से ही आचारों के विधान की कल्पना की जाती हो तो फिर आचार के या विधिविधान के स्वतंत्र ग्रन्थ रचने की आवश्यकता ही क्या है ? कथानुयोग से ही सब विधिविधानों का कार्य चल जाता हो तो चरणकरणनुयोग की अधिकता करना व्यर्थ है और भले या बुरे आचरण करने वालों की कथा परसे ही यदि उन आचारों की नियमबद्ध संगठना की जाती हो तो नीतिग्रन्थों या कायदे के ग्रन्थों की आवश्यकता ही क्यों पड़े ? जब आचार के ग्रन्थ जुदे ही रचे गये हैं और उनमें प्रत्येक छोटे बड़े आचारों का विधान किया गया है तथापि उनमें जिस विधान की गध तक नहीं मालूम देती हो उस विधान के समर्थन के लिये हम कथाओं का आश्रय लें या किसी के उदाहरण दें तो यह तमस्तरण नहीं तो और क्या है ? मैं यह बात हिम्मत पूर्वक कह सकता हूँ कि मैंने मुनियों या श्रावकों के लिये देवदर्शन या देवपूजन का विधान किसी भी अगसूत्र में नहीं देखा, इतना ही नहीं बल्कि भगवती आदि सूत्रों में कई एक श्रावकों की कथायें आती हैं, उनमें उनकी चर्याका भी उल्लेख है, परन्तु उसमें एक भी शब्द ऐसा मालूम नहीं होता कि जिसके आधार से हम अपनी उपस्थित की हुई देवपूजन और सम्बन्धित देव द्रव्य की मान्यता को घडी भरके लिये भी टिका सकें।

मै अपने समाज के धुरन्धर कुलगुरुओं से नम्रता पूर्वक यह प्रार्थना करता हूँ कि यदि वे मुझे इस विषय का एक भी प्रमाण या प्राचीन विधान विधिवाक्य बतलायेंगे तो मैं उनका विशेष ऋणी होऊंगा। कदाचित् इससे कोई बन्धु यह समझने की भूल न कर बैठे कि लेखक मूर्तिवादका विरोधी है। मैं प्रथम इस बात का खुलासा कर चुका हूँ और फिर भी कहे देता हूँ कि मैं इस बात का विरोधी नहीं हूँ, परन्तु जहाँ तक मैंने गवेषण की है इस विषय में सत्य हकीकत आपके सामने रखना मैं अपना कर्तव्य ममझता हूँ। इस विषय को आवश्यकता के प्रमाण में मै उपयोगी समझता हूँ। एव कामचारी तथा सत्सग, शास्त्राध्ययन, तप शील आदि के समान तरतमता से मूर्तिवाद में भी आत्मविकाश की निमित्तता देख रहा हूँ, और मानता हूँ, तथा दूसरों को बतला भी रहा हूँ। वर्तमान उपदेशकों में और मुझमें मात्र इतना ही फर्क है कि वे इस वाद का एकान्तपूर्वक विधान करते हैं। और उस विधान को पुष्ट करने के लिये उसे भगवान वर्धमान के नाम या उनके अग प्रवचन के नाम पर चढाते हैं एव तदर्थ ऐसी ही कितनी एक कथाओं का आलम्बन लेते हैं, परन्तु मैं इस वादके विषय में स्पष्ट शब्दो में यह कहता हूँ कि भले ही यह वाद भगवान

वर्धमान का कथन किया न हो, भले ही उसके सम्बन्ध में विधिवाक्य अंग सूत्रों में न मिल सकता हो तथापि वह लोंकके प्रवाहवाही विभाग को प्रारंभ मे आत्मा की मूल स्थिति का भान कराने के लिये दर्पण के समान है, अतः उसका मर्यादित सेवन उनके लिये अत्युपयोगी है। परन्तु उसका सेवन करने वाले को यह बात खास ध्यान में रखनी चाहिये कि वह सेवन अफीम के आदी जैसा न होना चाहिये। उस सेवन से कालक्रमेण-धीरे २ सेवको में पवित्र आचार, पवित्र विचार, पवित्र जीवन, विशुद्ध नीति और अखण्ड प्रामाणिकता जैसे मनुष्यता को शोभित करनेवाले सद्‌गुण तो अवश्य ही प्रगट होने चाहियें। कदाचित् हम अपने अशुद्ध सस्कारो के भीषण दबाव से दबे हुये हों, तथापि इस वाद के विवेकपूर्वक आश्रय से मेरी मान्यतानुसार चाहे जैसा अशुद्ध माना जाता हुआ मनुष्य भी यदा कदापि विशुद्ध हुये बिना नहीं रह सकता। महर्षि देवचद्रजी के शब्दो मे कहूँ तो-

"नामे ही प्रभु, नामे अभ्द्रत रग,

ठवणा हो प्रभु, ठवणा दीठे उल्लसे जी।

गुण आस्वाद हो प्रभु, गुण आस्वाद, अभग,

तन्मय हो प्रभु, तन्मयताए जे धसे जी" ।।६।।

परन्तु यदि हम वैसा न करे और जैसे एक मशीन क्रिया करती रहती है त्यो प्रत्येक क्रिया करते रहे तब फिर मूर्तिवाद तो क्या साक्षात् भगवान् महावीर भी हमारा कल्याण नही कर सकते। महाशयो! यहां पर मैं क्षन्तव्य हूँ। कोई पाठक महाशय मेरे विषय मे गैर समझ न कर लें तदर्थ मुझे विषयान्तर होकर भी मूर्तिवाद के सम्बन्ध मे अपना संक्षिप्त अभिप्राय बतलाना पडा है। इस विषय मे मै प्रसगवश अपने विशेष विचारो को भी आपके सामने रखने की कामना करके पुन: प्रस्तुत विषय पर आता हूँ। ऊपर कथन किये मुजब यदि मूर्तिवाद के साथ सम्बन्ध रखनेवाला कोई पुरातन ऐतिहासिक प्रमाण या अंगसूत्र का विधिवाक्य नही मिल सकता जो उसे अवलम्ब करनेवाले देवद्रव्य का साधक उल्लेख तो मिले ही कहा से? देवद्रव्य को भगवान महावीर भाषित या उसे अगविहित रूप से बतलाने वाले को सब से प्रथम मूर्तिवाद की श्रीवर्धमान-भाषितता और अगविहितता सिद्ध करनी चाहिये। ऐसा किये बिना देवद्रव्य अनादि का है देवद्रव्य शास्त्र मे लिखा हुआ

१ "जम्हा जिणाण पडिमा अप्प परिणाम दसणनिर्मित्ति आयसमडलाभा महाऽसुहज्झाणदिट्ठीए"-

(सबोधप्रकरण-श्लो० ४० पृ० २)

है और अमुक आचार्य या पन्यास देवद्रव्य को आगमोक्त बतला रहे हैं, यह सब कुछ जंगल मे रूदन करने के समान है। मैं यहा पर पनः इस को स्पष्ट किये देता हूँ कि वर्तमान विद्यमान अंगसूत्रों मे देवद्रव्य शब्द या उसके विषय का एक भी उल्लेख नहीं मिलता, उसका विधान नहीं मिलता, एवं अंगसूत्रो मे दी हुई कथाओ तक में भी उसका कही उल्लेख नही मिल सकता। आप यह न समझें कि सूत्रो मे उसका उल्लेख करने का प्रसग ही नही आया होगा, यह बात नही है। सूत्रो मे बहुत जगह पुण्यबन्ध और पापबन्ध से लगती तथा देवगति एव नरकगति के कारणो से लगती अनेक कथाये आई हैं उनमे कहीं पर भी पिछले साहित्य के समान-१ "बुड्ढतो जिणदब्बं तित्थयत्त लहइ जीवो" "२ रक्खतो जिणदव्ब परित्त-ससारिओ भणिओ" "३ भक्खतो अणतससारिओ भणिओ" "४ जिणधणमुविक्स्वमाणो . दुल्लहवोहि कुणइ जीवो" "५ दोहतो जिण्दव्ब दोहिच्च दुग्गय लहइ" ऐसा एक भी उल्लेख मुझे नही मिलसका, इसी कारण वर्तमान आचायो और धनाढ्यो के अति प्रिय देवद्रव्य सिद्धान्त के लिये मुझे उपरोक्त प्रामाणिक अभिप्राय बतलाना पडा है।

जो बात अगसूत्र के मूल पाठो मे नही है वह अगो के उपांगो, निर्युक्तियो, भाष्यो, चूर्णियो, अवचूर्णियो और टीकाओ मे कहां से हो सकती है? उपाग, निर्युक्तिया, भाष्य, चूर्णिया अवचूर्णिया और टीकाये इसी लिये लिखी जाती है कि किसी तरह मूल का अर्थ स्पष्ट हो। परन्तु मूल मे रही हुई किसी तरह की अपूर्णता को पूर्ण करने के लिये मूल पर भाष्य चूर्णिया आदि नही रची जाती। मेरी मान्यतानुसार मूल के व्याख्यानरूप लिखे हुये ग्रन्थो मे जिसकी गन्ध तक नही वैसा देवद्रव्य शब्द या उमसे लगती हुई बात किसी भी प्रकार सभवित नही हो सकती। तर्थापि यदि उन ग्रन्थकारो ने अपने २ वातावरण और परिस्थिति का अनुसरण करके मूल मे लगते हुये उन ग्रन्थो मे कही पर यह निर्मल उल्लेख किया भी हो तो चैत्य शब्द के जिनगृह और जिनबिम्ब अर्थ के समान उसकी प्राचीनता या विधेयता सिद्ध नही हो सकती,र परन्तु वह उल्लेख परिस्थितिजन्य होनेवाले कितने एक प्रक्षेपो मे से एक प्रक्षेप गिना जा सकता है। मैं तो यह भी मानता हूँ कि श्रमण ग्रन्थकार जो पाच महाव्रत के पालक है, सर्वथा हिसा नहीं करते, न कराते और उसमे सम्मति भी नही देते, जिनके लिये किसी प्रकार का द्रव्यस्तव विधेयरूप नहीं हो सकता, वे

१ जिनद्रव्य को बढाता हुआ प्राणी तीर्थकरत्व प्राप्त करता है। २ जिनद्रव्य की हिफाजत करता हुआ जीव अल्पससारी होता है ३ जिनद्रव्य को खाता हुआ जीव अनन्त ससारी होता है ४ जिनधन की उपेक्षा करता हुआ प्राणी दुर्लभ बोधी होता है। ५ जिनद्रव्य का द्रोह करनेवाला जीव दुर्गति प्राप्त करता है। (सबोधप्रकरण)

हिंसामूलक इस मूर्तिवाद के विधान का और तदवलम्बी देवद्रव्य के विधान का उल्लेख किस तरह कर सकते है? श्री हरिभद्रसूरिजी के बहुत से ग्रन्थों में इस मूर्तिवाद के विधान से लगता और देवद्रव्य की वृद्धि से लगता हुआ उपदेश दिया गया है, तदुपरान्त उन्होंने देवद्रव्य के भक्षक, देवद्रव्य के उपेक्षक और जिनाज्ञा बिना अनुचित रीति से देवद्रव्य की वृद्धि कारक को संसार समुद्र में डूबता हुआ भी बतलाया है। श्रीहरिभद्रसूरि का समय विक्रम की आठवी शताब्दी स्थिर किया गया है और हमारे सूत्र ग्रन्थो के अन्तिम सस्करण का समय जो देवर्धिगणीजी द्वारा वलभीपुर मे किया गया था, महावीर निर्वाण से ९८० याने विक्रम की ५१० शताब्दी मे शास्त्रनिश्चित है, और महावीर निर्वाण से ८८२ याने विक्रम ४१२ वे वर्ष मे निर्ग्रन्थों के चैत्य वास प्रारंभ करने की बात पहिले बतलाई जा चुकी है। तब इस ४१२-५१० और विक्रम की आठवीं शताब्दी इस एक शताब्दी और दो तीन शताब्दी के मध्य के समय मे ऐसी कोई परिस्थिति उपस्थित हो गई होगी कि जिस कारण जिस बात को ताजे ही संस्कारित हुये सूत्र ग्रन्थो मे न देखने पर भी श्रीहरिभद्रसूरिजी को अपने बहुत से ग्रन्थो में लिखना पडा हो और उसे विहित भी करना पडा हो। श्री हरिभद्रसूरि के बाद के जिन २ ग्रन्थों में मूर्तिवाद और देवद्रव्य की चर्चा की गई है एव विहितता बतलाई गई है उन सब के मूल हरिभद्रसूरि के गन्थो मे यह बात आई कहा से यह एक प्रश्न विचारने याग्य है। अर्वाचीन आचायो को मैं जैसे मताग्रही कह कर सबोधित करता हूँ वैसे इस महापुरूष के लिये नही कहा जा सकता। उनके ग्रन्थों मे जो मध्यस्थता, गम्भीरता और सत्यप्रियता देखी गई है वह लेखनशैली उनके बाद के ग्रन्थो मे मुझे क्वचित् ही देख पडती है। अब हम इस प्रस्तुत विवाद का अन्त तभी ला सकते है जब श्रीहरिभद्रजी के ग्रन्थो मे आये हुये मूर्तिवाद और देवद्रव्य सम्बन्धि चर्चा की जड को ढूँढ निकाले। यद्यपि यह एक ऐतिहासिक प्रश्न बडा ही जटिलसा प्रतीत होता है, तथपि इसे हम इस प्रकार सुलझा सकते हैं- आचारागसूत्र मे आई हुई भगवान श्रीवर्धमान की चर्चा से मालूम होता है कि उनका त्याग विशेष कठिन था, बल्कि और भी कहे तो उस तरह के त्याग को आचार मे लाने के लिये मात्र वैसे ही समर्थ पुरूषो का सामर्थ्य होता है और वैसे वीर विरले ही होते हैं। जम्बूस्वामी के बाद जिनकल्प विच्छेद होने की जो दन्तकथा प्रचलित है, उसी से भगवान वर्धमान के त्याग की कठिनाई स्पष्ट हो जाती है। महावीर निर्वाण के बाद जम्बूस्वामी तक के समय मे याने महावीर निर्वाण की प्रथम शताब्दी मे महात्मा बुद्ध के मध्यम मार्ग ने काफी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। उनके मार्ग का यह उदेश्य था कि शरीर को विशेष न सताकर ऐसी प्रवृत्ति करने

की आवश्यकता है कि जिससे मन स्थितप्रज्ञ रह सके और लाकोपकार भी हो सके। महात्मा वर्धमान स्वयं कायदण्डवादी थे और महात्मा बुद्ध मनोदण्डवादी थे। वह मध्यम मार्ग शोक के समय में वह प्राय सर्वव्यापी हो चुका था। महावीर निर्वाण से दूसरी और तीसरी शताब्दी के बीच का समय मध्यम मार्ग के लिये विशेष अनुकूल था। वह समय वही था जब कि भारत में सम्राट अशोक का धर्मराज्य प्रवर्तता था। उस समय ससारकी चौखण्ड पृथ्वी पर चारो ओर बौद्धमठों की स्थापना की गई थी, जिनमें रहने वाले बौद्धभिक्षु शक्य लोक सेवा करने के लिये सदैव तत्पर रहते थे और सम्राट अशोक एवं उनकी प्रजा उन्हें सेवा करने की धनादि साधन सामग्री जुटाती थी। वे भिक्षु बीमारो को औषधि देते थे, उनकी सेवा शुश्रुषा करते थे, दीन दुखियों की सहाय करते थे, दर्दी पशुओ एव पक्षियो तक की चिकित्सा करते थे। विद्यार्थियो को विद्यादान करते थे, आरोग्य समिति के कार्य में भी सहायता करने से न् चूकते थे, तथा जख्मी हुये डाकुओ तक की सेवाशुश्रुषा करके उन्हे भी परमदयालू बनाते थे। (देखो श्रमणनारद) इस तरह वे बौद्धभीक्षु हर एक प्रकार से लोगो की योग्य व्यवहारिक सेवा मे ही अपना जीवन व्यतीत करते थे और इसके द्वारा किसी तरह की आना कानी किये बिना ही वे बौद्ध प्रवचन को सर्वव्यापी बना रहे थे। इस प्रकार उस मध्यम मार्ग की परिस्थिति जितनी लाकोपयोगी थी उतनी ही प्रजा सेवक भिक्षुओ के लिये सरल और सुन्दर थी। मेरी मान्यतानुसार उस समय के श्रीवर्धमान के कठिन त्याग मार्ग मे खिन्न हुये जैनभिक्षुओ पर बौद्धो के इस सरल और लोकोपयोगी मध्यम मार्ग का असर होना सहज बात है। जम्बूस्वामी के निर्वाण बाद उन जैनभिक्षुओ मे जिनकल्प के सम्बन्ध मे जो खल भलाहट मचा था उसे शान्त करने का यह एक ही उपाय था कि वे अपने से दुस्साध्य कठिन त्याग के मार्ग को बदल कर इस मध्यम मार्ग जैसे सरल और उपयोगी मार्ग का आश्रय लेके अपने आत्मकल्याण और लोककल्याण की भी साधना करे। उस समय जो भिक्षु वस्त्र पात्र के मक्त विरोधी थे और श्रीवर्धमान के कठिन त्याग मार्ग के अनुयायी थे उन पर कदाचित् मध्यम मार्ग का असर न हो सका हो, परन्तु जो मुनि वस्त्र पात्र वाद को भी मानते थे और स्वकल्याण के आकाक्षी थे उन्हे यह मध्यम मार्ग इष्ट हो इस मे कोई आश्चर्य की बात नही है। यह सभव है कि वे किसी भी तरह श्रीवर्धमान के प्रति अपनी श्रद्धा भक्ति को कम करना न चाहते थे, इंससे बुद्ध के मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुये अपना वर्धमान -अनुयायित्व न खोना पडे इस भय से उन्होने अपने पूर्वजो का मार्ग उज्वल करने के लिये एक ऐसा मध्यम मार्ग के समान सरल और उपयोगी मार्ग निकालना पसद किया था कि जिसके द्वारा वे बौद्ध

भिक्षुओं के समान लोक सेवा कर सके और अपना भी श्रेय साध सकें। इस मदयम मार्ग का अनुसरण करने वाले जैन मुनियो ने अपने उस मार्ग का कोई खास नाम रक्खा हो यह जानने मे नहीं आया और उस मार्ग का जुदा नाम होना सभवित भी नहीं होता, क्योकि उन जैनमुनियों ने वह तो मात्र श्रीवर्धमान के कठिन त्याग आचारो को कुछ नरम बनाया था, मठवास या वंसतिवास को अंगीकार किया था, वस्त्र पात्र की उपयोगिता तो उन्हें सम्मत ही थी। उपदेश द्वारा, ग्रन्थरचना द्वारा, मत्र तत्र द्वारा और निमित्त ज्ञान द्वारा वे निरीह भाव से लोगो की निर्दोष सेवा करने के इच्छुक थे और वैसा करके बुद्ध मार्ग के समान श्री वर्धमान के मार्ग को फैलाने की उनकी उच्च कामना थी। इस सरल मार्ग मे तत्ववाद से लगता हुआ कोई खास भेद न था परन्तु मात्र आचारों की ही सरलता थी, इसी से कुछ विशेषता रहित उस सरल मार्ग को जुदे नाम से उस समय के सक्षुभित भिक्षुसंध में फूट डालना उन्हे अनुचित प्रतीत हुआ हो और इसी कारण उन्होने उस मार्ग को किसी जुदे नाम से न प्रगट किया हो यह सभव है। मैं यह बात भी मानता हूँ कि ज्यों साधारणतया हुआ करता है त्यो इस मार्ग मे भी कालक्रमेण पक्षापक्ष होता रहा होगा, मताग्रह प्रचलित रहा होगा और हठवाद भी बढ़ता रहा होगा, एव उसके अन्तिम परिणाम मे श्वेताम्बर दिगम्बर के समान क्षुल्लक भेद के कारण इस निर्नाम मार्ग को अन्य मार्गो के सदृश सर्वथा जुदा होना पडा होगा। यदि हम यह बात माने कि महावीर निर्वाण से दूसरी शताब्दी मे यह निर्नाम सरल मार्ग प्रचलित हुआ होगा और उसके बाद की पाचवी छठी शताब्दी बीतने तक पक्षापक्षी, मताग्रह और हठवाद का रसायन सेवन करके वह पुष्ट हुआ हो तथा अन्त मे महावीर निर्वाण से ८८२ वर्ष में चैत्वास के नाम से प्रगट हुआ हो तो यह भी विशेष सभव है। महावीर निर्वाण से ८८२ वर्ष मे प्रगट हुये चैत्यवास की जड मुझे इस सरल मार्ग मे ही भासित होने के कारण मैने इस प्रकार का उल्लेख किया है।

किसी भी धार्मिक स्थिति का प्रारभ बहुत ही सादा होता है और कल्याणकारी एव लोक हितकारी होता है, परन्तु जब उसमे आग्रह, अन्धता और अविवेकता का सम्मिश्रण होता है तब उसे एक जुदे पथ या सप्रदाय रूप मे गिनते हैं। जिस वक्त उसमे स्वाछद्य, विलासिता और स्वार्थ की मात्रा अधिक प्रमाण मे बढ जाती हैं तब स्वय ही उसका अन्तकाल आ जाता है तथा उस एक ही मार्ग की अन्तकाल की स्थिति मे और प्रारंभिक स्थिति मे इतना अधिक अन्तर मालूम होता है कि जितना नर और खर मे होता है। 'श्रीहरिभद्रसूरिजी ने जिन मुनियो का खेदजनक चित्र अपने ग्रन्थ मे दिया है

उस स्थिति को मैं इस सरल मार्ग का अन्तिम एवं सर्वथा विकृत स्वरूप मानता हूँ। कहा जाता है महावीर निर्वाण से दूसरी शताब्दी मे होनेवाले श्री भद्रवाहू स्वामी ने मरीका उपद्रव शान्त करने के लिये तथा संघ मे शान्ति करने के निमित्त उवसग्गहर, स्तोत्र बनाया था। महावीर निर्वाण से पाचवी शताब्दी मे होने वाले विद्यासिद्ध श्रीखपुटाचार्य ने अपनी विद्या के चमत्कार से बहुत सी जगह सघोपयोगी कार्य किये थे। वीर निर्वाण से छठी शताब्दी मे होनेवाले श्री वज्रस्वामी ने अपनी गगनगामिनी विद्या से एक देश में से दूसरे देश में ले जाकर दुर्भिक्षके भीषण पंजे से बचाकर जैन सघ को सुरक्षित रक्खा था और वीरनिर्वाण से ग्यारहवी-बारहवीं शताब्दी के बीच में होने वाले श्रीहरिभद्रसूरि बहुत से दुःखित जनों को भोजन देकर उनका पोषण करते थे, 'ये बातें त्यागमूर्ति श्रीवर्धमान के कठिन त्यागमार्गी मुनियो के लिये घट नही सकती। तरन्तु ऊपर बतलाये हुये मध्यम मार्ग के अवलम्बक भिक्षुओं के लिये ही घटती है। इस प्रकार सरल और लोकोपयोगी मध्यम मार्ग से लगते हुये मेरे पूर्वोक्त उल्लेख इन आचार्यों की जीवन घटना पुष्ट करती है। यदि हम इसी बात को ध्यान मे रखकर विशेष विचार करे तो हमे इस इतिहास मे ही मूर्तिवाद और देवद्रव्य वाद की जड मिल सकती है। मेरी इच्छा थी कि यहा पर उस समय के अन्य भी अनेक आचार्यों के जीवन वृतान्त देकर उपरोक्त मन्तव्य को विशेष दृढ बनाऊँ किन्तु लाचार हूँ कि वैसा नही कर सकता क्योकि वीर निर्वाण से १००० तक के इतिहास का अधिक हिस्सा अभी तक विशेष अन्धकार मे पडा है। उस मे से जो कुछ मिलता है उसमे कितने एक नामो की और उन से लगती उपयोगी दन्तकथा वाली कुछ २ बातें उपलब्ध होती हैं, जो परम्परा के आधार से वर्तमान पट्टावलियों में उल्लिखित है। यह तो बुद्ध समय के श्रीवर्धमान के मार्ग की परिस्थिति से और अपने इतिहास मे मिलनेवाले चैत्यवास के उल्लेख से उस (चैत्यवास) की जड को ढूँढ़ निकालने का मेरी ऊपरी-ब्राह्मप्रयास मात्र है। इस विषय मे मैं दृढतापूर्वक इतना कह सकता हूँ और आगे कह भी चुका हूँ कि जिस मूर्तिवाद का विधान और देवद्रव्य की गन्ध अगमत्र ग्रन्थो मे नही मिलती उसका हरिभद्रसूरि समर्थन पूर्वक उल्लेख करते है इसका क्या कारण होना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर स्वय ही एक ऐसी परम्परा को ढूँढ निकालता है कि जो मूर्तिवाद तथा देवद्रव्य को माननेवाली थी और जिसका शास्त्रविश्रुत चैत्यवास परम्परा नाम था। इसमे मूर्तिवाद और देवद्रव्य से लगते हुये श्रीहरिभद्रसूरि के उल्लेखो के मूलस्वरूप मे हमे भी उसी परम्परा को स्वीकारना है जिसे पहले शास्त्रविश्रुत परम्परा कही है। यह परम्परा कुछ इभाकूर के समान वीरर्वाण से ८८२ वर्ष मे शीघ्र ही नही ऊग निकली

होगी, परन्तु एक घटदार वृक्ष के समान उसका धीरे २ विकाश भी हुआ होगा और अन्त में उसमें बिकार हुये बाद ही उसे नष्ट होना पड़ा होगा। एक आम के पेड को पैदा होते, फलते, फूलते और अन्त मे कालके गाल मे पडते तक भी अधिक समय व्यतीत होता है तो फिर एक बड़ी सम्प्रदाय-परम्परा को पैदा मार्गरूप से चिरकालतक स्थित रह कर नष्ट होते हुये यदि पांच छह शताब्दीया या इससे कुछ और भी न्यूनाधिक समय बीत जाय तो यह क्रमविकाश की दृष्टि से सर्वथा सभवित हैं। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों का प्रारम्भ से अन्ततकका इतिहास पढते हुये भी इतने ही समय की प्रतीत होना शक्य मालूम होता है। इसी आधार से मैने ऊपर बतलाया है कि चैत्यवास का बीजरोपण बुद्ध के मध्यम मार्ग के आधार पर उसी समय हुआ है जबकि महावीर, सुधर्मा, या जम्बू जैसे कठिन त्याग के प्रेमियो का अभाव था, उस समय जो कठिन त्याग के अनुयायी थे वे बहुत कम प्रमाण मे थे और जिनकी संख्या अधिक थी उनका लक्ष्य बुद्ध के मध्यम मार्ग जैसे सरल मार्ग पर जम चुका था। अर्थात् वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे ही इस परम्परा की खूब गहरी जड जम गई थी, जिसके द्वारा श्वेताम्बरता और दिगम्बरता के विषवृक्ष की भी पुष्टि हुई थी। अन्त मे जो वीर निर्वाण के बाद ९ वी शताब्दी मे अकूर प्रगट हुआ वह भी ऐसी सडी हुई दशा मे प्रगटा कि वीर निर्वाण के बाद ११ वी शताब्दी मे होने वाले आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि को अपने सम्प्रदाय की भी उस जड पर नष्ट करने का प्रयास करना पडा था, यह आज हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इस प्रकार श्री हरिभद्रसूरि ने किया हुआ मूर्तिवाद और देवद्रव्य का उल्लेख एव इस परम्परा के सामने जो विरोध करने का उल्लेख किया है ये तीनो ही मेरी इस क्रमिक विकास की कल्पना को मजबूत बनाने के लिये पर्याप्त हैं। अब मुझे यह बात यहा पर जरा विशेष रूप से स्पष्ठ करने की आवश्यकता है कि चैत्यवास की इस परम्परा के साथ मूर्तिवाद और देवद्रव्य का किस तरह का सम्बन्ध है? यदि मैं यथार्थरूप से इस प्रश्न का उत्तर दे सकूगा तो ही इस प्रस्तुत विषय पर यर्थाथ रीत्या चर्चाकर सकता हूँ। अभी तक ऐसा एक भी प्रमाण उपलब्ध नही हुआ जिससे यह प्रमाणित हो कि श्रीवर्धमान के समय मूर्तिवाद वर्तमान के समान एक मार्ग स्वरूप प्रचलित हुआ, हो तथा वीर निर्वाण से ९८० वर्ष मे सकलित हुआ साहित्य भी इस विषय मे किसी प्रकार का विधायक प्रकाश नही डालता कि जो मूर्तिवाद के साथ प्रधानता विशेष सम्बन्ध रखता है। इससे हम इतने सरल सत्य को तो अवश्य समझ सकते हैं कि वीर निर्वाण से ९८० वर्ष तक के या विक्रम से ५१० वर्ष तक के समय मे एक प्रवाही मार्ग रूप मे मूर्तिवाद की उत्कट गन्ध तक मालूम नही होती। तथापि मै इस बात को मजूर कर लेता

हूँ कि लोकस्वभाव के कारण वीर निर्वाण के बाद ही कदाचित् कही पर उसका अकूर प्रबलता की पाचवी या छठी शताब्दी लिखी है और उसका आरंभ बुद्ध निर्वाण के बाद साबित किया है। बुद्ध की विद्यमानता में ही ज्ञात पुत्र श्रीवर्धमान का निर्वाण होने से हम यह कल्पना कर सकते हैं कि श्रीवर्धमान के निर्वाण बाद लगभग आधी शताब्दी बीत जाने पर मध्यम मार्ग के सस्थापक के स्मरण चिन्ह स्वरूप बुद्ध के मंदिर और मूर्तिया बनी हो। उस समय श्रीवर्धमान के भिक्षु सर्वथा निस्पृह, लोकैषणा की उपेक्षा करने वाले और कठिन त्यागी होने के कारण वे बुद्ध के मंदिर या मूर्तिया देखते ही ढीले बनजाय ऐसे न थे, उन्हे ढीला होने के लिये कुछ समय और निरकुशता की आवश्यकता थी। वीर निर्वाण की लगभग पौनी शताब्दी बीत चुकने पर अर्थात् महावीर से ६४ वे वर्ष मे और जब उनके जम्बूस्वामी जैसे बलिष्ठ सेनापति का अभाव हो चुका तब उन्होने धीरे २ उस कठिन मार्ग को छोडकर अपने मन माने सरल और उपयोगी मध्यम मार्ग का आश्रय लेना आरभ किया था। जो कठिन थे वे तो कठिन त्याग ही रहे, परन्तु जो उस कठिनाई को सहन न कर सकते थे उन्होने मध्यम मार्ग को ही वीर भाषित मानकर आश्रित कर लिया। मध्यम मार्ग का प्रारभ बहुत ही सुन्दर और उपयोगी था, उस मे वे लोगो के लिये बौद्धभिक्षुओ के समान अपना विशेष समय व्यतीत करते थे और जहा तक बन सके वहा तक वे जैनभिक्षु निर्दोषतया लोकोपयोगी बने थे। मेरी धारणा के अनुसार जैनो का यह मध्यम मार्ग ज्यो ज्यो विशेष लोकोपयोगी बनता गया होगा त्यो त्यो उन्हे अपनी कितनी एक प्रवृत्तियो मे भी परिवर्तन करना पडा होगा और कितनी एक ऐसी नवीन प्रवृत्तिया स्वीकारनी भी पडी होगी जो परोक्ष रीति मे या परम्परा से सयम की बाधक होती हो। उन्होने लोगो के हितार्थ यह भी उपदेश किया होगा कि अपने सामने सत्पुरूषो के स्मारक चिन्ह रखने की विशेष आवश्यकता है, जिसकी स्मृति से धीरे २ हमारा विकाश होना शक्य और सुलभ बन सके। इस प्रकार के उपदेश से भगवान महावीर के स्मारक का प्रारभ करना यह अहिसा प्रधान सयम के दूसरे और तीसरे (कराना और करने वाले का अनुमोदन करना) भागे का बाधक गिना जाता है, तथापि उस बाधक प्रवृत्ति को लोकोपयोगी मानकर सयम की वर्तमान परिस्थिति को देख कर उन्होंने निर्दोष समझा हो यह संभव हो। इसी तरह उन्होने दानशालायें, सत्रागार और पाठशालाये स्थापित करने कराने आदि लोकोपयोगी कार्यो मे हाथ लबाया हो यह भी सगत है और उन सब कार्यो की सुव्यवस्था करने के लिये लोगो की ओर से मुनि ही नियुक्त किये गये हो तो इसमे भी कोई असगति नही प्रतीत होती। उन समस्त कार्यो को सुचारुरूप से संचालित

रखने के लिये एव उन्हें सफल बनाने के लिये लोगो की तरफ से साधुओ को धनादि सामग्री का दान देना निश्चत ही है इसमें किसी तरह के संकल्प विकल्प को स्थान ही नहीं मिल सकता। वे भिक्षु तो आचार से पवित्र और विचार से विशुद्ध थे। मात्र त्याग की पराकाष्ठा ही उन्हें असह्य मालूम होती थी, इसी कारण वे जिस तरह लोकोपयोगी होकर श्रीवर्धमान के मार्ग के प्रचारक हो सकें और अपने पराये कल्याण के साधक भी बन सकें इस प्रकार के इस आपवादिक मार्ग का अनुसरण करते थे। लोग अपनी या उस समय के अपने समाज की उन्नति के लिये उन भिक्षुओ को जो धनादि सामग्री प्रदान करते थे उसका नाम मगलद्रव्य, शाश्वतद्रव्य या निधिद्रव्य रक्खा गया था। यहां पर मुझे प्रसंगोपात यह बातं भी बतला देने की आवश्यकता है कि जो निर्ग्रन्थ धन का स्पर्श तक भी न करते थे, जो सह्य त्याग के एवं आत्मकल्याण के अभिलाषी थे और जो भिक्षु अपनी सयम पद्धति को लोक हित के रूप मे परिवर्तित कर भगवान महावीर का मार्ग दिपाने मे आतुर थे वे मध्यम मार्ग पर आरूढ़ होते ही लोकोपयोगी सर्व प्रकार के आरभो को भी करने लग पडे थे यह समझना भूल होगा। यह एक नैसर्गिक नियम है कि ज्यों मनुष्य को ऊपर चढ़ते हुये देर लगती है त्यो उतरहे हुये भी समय लगता है, इस नियम के अनुसार हमारे उन निर्ग्रन्थ महानुभावो ने चाहे वैसे सरल मार्ग को अगीकार किया था तथापि उपदेशतरगिणी के इस श्लोक मे वर्णित उनका आचार लगभग अबाधित था–

"१ भुज्जीमही वय भैक्ष, शीर्ण वासो वसीमंहि। शयीमहि महीपीठे कुर्वीमति किमीश्वरै·" ।।१४५।। पृ० ४९

"२ पद्भ्यामध्वनि सचरेय विरस भुज्जीय भैक्ष सकृनजोर्ण सिगृ निवसीय भूमिबलये रात्रौ शयीय क्षणम्। निस्सग्ङत्वमधिश्रयेय ।मतामुल्लासयेया ऽनिश। ज्योतिस्तत् परम दधीय हृदये कुर्वीय कि भूभुजा ।।१६८।।

३ पद्भ्यौ गलदुपानद्म्या सचरन्तेऽत्र ये दिवा। चारित्रिणस्त एव स्युर्न परे यानयायिन ।।१६१।।

१ भिक्षा मागकर भोजन करना,' शीर्ण-फटे टूटे वस्त्र पहनना, जमीन पर सोना। २ पैदल प्रवास करना, एक ही दफा निरस आहार करना, पुराने वस्त्र पहनना रात को जमीन पर क्षणभर सोना नि सग रहना, सर्वथ सम रहना, परमज्योतिका ध्यान करना। ३ पैरो मे जूता न पहनना, यानयायी न होना। ४ केशापनयन करना, कम खाना, शकादिरहित भोजन करना, दिन मे न सोना, स्नान और भोग का त्याग करना तथा सस्कारित पानी पीना।"

४ केशोत्तारणमल्पमल्पमशनं निर्व्यञ्जनं भोजनं। निद्रावर्जनमह्नि मज्जनविधित्यागश्च भोगश्च न।। पानं संस्कृतपाथसामविरतं येषां किलेत्थं क्रिया तेषां कर्ममयामयः स्फुटमयं स्पष्टोऽपिहि क्षीयते ।।१७०।। (पृष्ठ ५७)

जब इस मध्यम मार्ग के प्रारभ का समय होग उस वक्त वे निर्ग्रन्थ उपदेश द्वारा एव ग्रन्थ रचना द्वारा लोकोपकार करते होंगे, प्रारंभ में तो शक्य निर्दोषता रखकर ही इस मार्ग को विजयी बनाने का उनका ध्येय होगा, परन्तु ज्यों २ समय बीतता गया त्यो २ उन्होंने कितने एक अपवादों को स्वीकार करके भी लोक श्रेयका कार्य किया होगा। इसी तरह वे धीरे २ बौद्धो के मठवास के समीप मे आये होगे। जो मैंने अभी धनादि सामग्री के सम्बन्ध में उल्लेख किया है वह कोई मेरा कल्पित विचार नही है, किन्तु उस समय मठवास के निकट आते हुये जैनाचार्यों को जैनराजा द्वारा धन दान दिया जाने के और उस समय की जैनप्रजा द्वारा सामाजिक शुभ कार्य के लिये मुनियों को धन देने के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[1] आचार्य श्रीसिद्धसेनसूरि को विक्रमादित्य एक करोड रुपये देने लगा था और वे रुपये विक्रम के बही खाते मे श्रीसिद्धसेन के नाम लिखे भी गये थे। परन्तु अकिचन श्रीसिद्धसेन ने उन्हे लेने से अरुचि प्रगट की थी और उस द्रव्य का विक्रमादित्य को यथारुचि उपयोग करने को कह दिया था, इससे विक्रमादित्य ने श्रीसिद्धसेन को अर्पण किया हुआ वह द्रव्य दुखीसाधर्मिक और चैत्यो के उद्धार मे खर्च किया था।[2] आचार्य जीवसूरि को लल्ल नामक एक जैनगृहस्थ ने पचास हजार रुपये अर्पण करने की इच्छा व्यक्त की थी और कहा था कि "यदि आप यह धन लो तो मुझे अधिक लाभ होगा आप यह धन लेकर यथेच्छ दान दे सकते हैं" परन्तु उस आचार्य ने भी श्रीसिद्धसेन के समान उसी कारण (साधुता मे बाधा आ जाने के कारण) उस धन को अगीकार न करके लल्ल शेठ द्वारा ही एक

१ श्रीसिद्धसेनसूरिश्चान्यदा ब्राह्मभुवि व्रजन्। दृष्ट श्रीविक्रमाकेण राज्ञा राजध्वगेन स ।।६१।। तस्य दक्षतया तुष्ट प्रीतिदाने ददौ नृपा। कोटि हाट कटकाना लेखक पत्रके ऽलिखत् ।।६२।। तद्यथा-धर्मलाभ इहि प्रोक्ते दूरादुद्धतपोणये। सूरये सिद्धसेनाय ददौ कोटि नराधिप ।।६४।। उवाच सिद्धो द्रव्येण चक्रेऽसौ साधारण समुद्रकम्। दु.स्थासाधमिकस्तोम -चैत्यो द्वारा दिहेतवे" ।।६६।। (प्रभावकच० पृ० ९४)

२ ययौ लल्ल प्रभो पार्श्वे चक्रे धर्मानुयोजनम् ।।९७।। x श्रुत्वेति स प्रपेदेऽथ ससम्यक्त्वा व्रतावलीम् ।।१०१।। द्रव्यलक्षस्य सकल्पो विहित सूर्यपर्वणि ।।१०२।। कथमर्ध मया शेष व्ययनीय यदादिश ।।१०३।। मम चेतसि पूज्याना दत्त बहुफल भवेत्। तद् गृहीत प्रभो! यूय यथेच्छ दत्त वाऽऽदरात् ।।१०४।।

(प्रभा० पृ० ८५)

रम्य निजालय तैयार कराने में उसे खर्च करा दिया था। यहां पर यह बात हमें खास ध्यान में रखने योग्य है कि एक जैनगृहस्थ एक जैन मुनि को रुपये अर्पण करने की प्रर्थाना करता है, यद्यपि उस धन को स्वीकार करने में त्यागमूर्ति मुनिजी ने अपना धर्म न समझा, परन्तु एक जैनगृहस्थ-वह भी जैनधर्म को जानने वाला त्यागी योगी को धन देने की बात कहे क्या यह आश्चर्य जनक बात नही है?

वर्तमान समय मे भी साधु चाहे जैसे शिथिल हो गये है, कितने एक तो अपने नाम का खाता खोलकर धर्म प्रभावना की प्रवृति कर रहे हैं, जिनके लिये प्रतिमास हजारो का धन खर्च होता रहता है, जिनके पास प्रचलित नोटो के समान सख्याबद्ध पोस्ट की टिकिटे रहती हैं और मात्र पुस्तको के ढेरो की रखवाली कर रहे हैं ऐसे इन साधुओ को भी कोई जैन गृहस्थ यह कदापि नही कह सकता कि महाराज यह धन अगीकार करो और आप इसका यथेच्छ उपयोग करो। जैन गृहस्थ यह समझते हैं कि मुनियो का आचार धन ग्रहण करने का नही है ओर उन्हे धन देने का हमारा भी धर्म नही है। इसी हेतु से वे खुल्लम खुल्ला रूप से साधुओ को नगद धन नही दे सकते एव वे इस प्रकार ले भी नही सकते। तब फिर जैन गृहस्थ लल्लशेठ ने जीवसूरि को पचास हजार रूपये देने की बात और राजा विक्रमादित्य ने श्री सिद्धसेनसूरि के नाम पर लिखे हुये रूपयो की जो बात हमे सप्रमाण मिलती है उसका समन्वय किस प्रकार किया जाय? मुझे तो इन प्रभावको की हकीकत से यह स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय के मुनियो मे साधारणरीत्या धन लेने देने का व्यवहार प्रारभ हो चुका होगा, परन्तु कितने एक त्यागप्रिय विरले महात्मा धन का स्पर्श तक भी न करते होगे। यदि यह रिवाज साधारण न हो गया हो तो जैन गृहस्थ की और सन्यासी के आचार से परिचित राजा की इस तरह की प्रवृत्ति कदापि सभवित नही हो सकती कि वे अकिचन मुनि को धन लेने की प्रार्थन करे। साधुमात्र उपदेश और ग्रन्थ रचना जैसी निर्दोष प्रवृति से लोक कल्याण की साधना करते थे। वे अब विक्रम और लल्लशेठ के समय समाज से धन लेकर भी लोककल्याण की प्रवृति मे पडे थे, मत्र तत्र करते थे, वैद्यक करते थे, ज्योतिष बतलाते थे और मदिर भी चिनवाते थे। प्रभावक चरित्र मे जो सिद्धसेनसूरि के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलता है उसमे यह भी बतलाया है कि उन्होने सुवर्णासिद्धि और सर्षप विद्या द्वारा [1] कर्मारनगर के राजा देवापाल को और [2] भृगुपुर के राजा धनजय (बलमित्र के पुत्र) को एव

१ देखो प्रभावक चरित्र पृ० ९५, श्लो० ७५ से ८६। २ प्रभावक चरित्र पृ० १०२,

दो राजाओं की लडाई मे सैन्य से विपुल धन से सहाय की थी और इस प्रकार राष्ट्रसेवा मे भी हिस्सा लिया था। इसी ग्रन्थ मे एक प्रबन्ध [3]विजयसिह सूरिका आता है, उसमे उन्हे गुटिकासिद्ध मात्रिक के विशेषण से प्रशासित किया है इन विजयसिह सूरि ने अपने मुख मे गुटिका रखकर एक मदिर के लिये रूपयो का चदा किया था, उस चदे मे कितनेएक ब्राह्मणों ने भी (किसी ने ५०, १००, २००) रूपये दिये थे और इस तरह किये हुये उस फण्ड मे कुल ५०,०००) रूपये हुये थे। उन रूपयो से आचार्य श्री ने एक श्रेष्ठ कारीगर की सहाय से काष्ठ का जिनमंदिर सुधरवाया था। तदुपरान्त आचार्य [4]आर्यखपुट, आचार्य [5]पादलिप्त, आचार्य [6]रूद्रदेवसूरि और आचार्य [7]नागार्जुन आदि की भी इसी प्रकार की प्रवृति उन २ प्रबन्धो मे, उन ग्रन्थो मे वर्णित की हुई है।

इन सब बातो के देखते हुये यह स्पष्ट मालूम होता है कि समाज ने धन लेकर कार्य करने वाले निस्पृह आचार्यो का वश धीरे २ सस्पृह हुआ हो और अपने पास भी द्रव्य रखकर अपने पूर्वजो के मार्ग को कायम रक्खा हो। सघ पट्टक मे वर्णित चैत्य वास के प्रारंभिक इतिहास मे बतलाया गयाहै कि, 'जिस वक्त श्रावक धार्मिक कार्यों की ओर दुर्लक्ष करने लगे और कितनीएक धार्मिक प्रवृतिया जो कि श्रावको के करने योग्य थी बन्द लगी वैसे समय मे उन तमाम प्रवृतियो को चालू रखने के लिये एव धार्मिक कार्यो को सभालने के लिये निर्ग्रन्थ साधुओ को भी अपने सयम का कुछ बलिदान करना पडा था, मंदिर आदि की व्यवस्था करनी पडी थी। तदर्थ द्रव्य का सम्पर्क, उसका हिसाब और लेन देन वगैरह भी विशेष करना पडा था।

श्लो० १६५ से १६८। ३ प्रभावक चरित्र विजयसिह सूरि प्रबन्ध पृ० ६९-७८। ४ प्रभावक चरित्र पृ० ५६ से ६१ श्लो० १४६ से २३२ तक। ५ प्रभावक चरित्र पादलिप्त प्रबन्ध पृ० ४७ से ६९ तक। ६ प्रभावक चरित्र पृ० ५४-५५ तक। ७ प्रभावक च० पृ० ६२ से ६६ तक श्लो० २४८ से ३०६ तक। तदुपरान्त प्रभावक चरित्र मे वर्णित प्रत्येक प्रबन्ध मे इस तरह की सख्याबद्ध बाते मिलती है और वह असर चैत्यवास नष्ट हो जाने पर भी अभी तक चली आ रही है। मानदेवसूरि, मुनिसुन्दरसूरि, ४६ वा पट्टधर धर्मघोषसूरि, हेमचन्द्रसूरि, मलयगिरिजी, अभयदेवसूरि, वादिवेताल शान्तिसूरि और वादिदेवसूरिज प्रभृति अनेक आचार्यो के जीवन मे ऐसी अनेक घटनाओ का उल्लेख मिलता है। राजा कुमारपाल जिनमंदिर मे वारवधुओ (वेश्याओ) द्वारा आरती करता था यह भी चैत्य वासका ही असर था।

"निसि निविसिऊण-पट्टे आरत्तिय-मगलाइ। कारवइ। वारवहूनिवहेण मागहगणगिज्ज माणगुणो। (कुमारपाल के समसमयी सोमप्रभ)

मैंने जो ऊपर बतलाया है कि इस मध्यम मार्ग की ओर आकर्षित हुआ साधुसंघ धर्म की रक्षा के लिये धीरे २ धनादि प्रपंच की तरफ भी झुका था, इस बात की चैत्य वास का प्रारंभिक इतिहास भी पुष्टि करता है। उस समय के कुशल आचार्य बडी पवित्रतापूर्वक रहकर एवं सामयिक अपवादों को सेवन करने भी धर्मकार्य करते होंगे। उनके पास जो धन इकट्ठा होता उस धन को वे अपने लिये न खर्च कर श्रीसंघ के हितार्थ ही खर्चते होंगे और इसी कारण वे उस धन को मगलद्रव्य, शाश्वतद्रव्य या निधिद्रव्य के नाम से व्यवहारित करते होगे। हरिभद्रसूरि ने अपने * सम्बोध प्रकारण में जिनद्रव्य के पर्याय के तौर पर इन तीन शब्दो को भी रक्खा है। शब्द शास्त्र के नियमानुसार पर्यायवाचक शब्दो का एक समान ही अर्थ होता है, जैसे कि घट, कलश, कुभ, इन तीन शब्दो की व्युत्पत्ति भिन्न २ होने पर भी उनके अर्थ व्यवहार में जरा भी अन्तर मालूम नहीं होता, मनुष्य, मानव, और मनुज ये तीनो पर्यायशब्द एक ही भाव को सूचित करते हैं इसी तरह यहाँ भी शाश्वतद्रव्य, मगलद्रव्य, निधिद्रव्य और जिनद्रव्य, ये चारो ही शब्द एकार्थक होने के कारण इनके प्रत्येक के भाव में लेशमात्र भी अन्तर का सभव नही हो सकता। जो भाव शाश्वतद्रव्य शब्द से लिया जाता है उसी भाव को जिनद्रव्य शब्द भी सूचित करता है, अर्थात् शाश्वतद्रव्य शब्द में जितनी अर्थ व्यापकता समाई हुई है उतनी ही अर्थ व्यापकता जिनद्रव्य शब्द मे हो तभी वह उसका पर्याय हो सकता है।

इस सम्बन्ध मे श्रीहरिभद्रसूरि जी यहाँ तक लिखते है कि यह मगलद्रव्य, शाश्वतद्रव्य, निधिद्रव्य और जिनद्रव्य शब्द से व्यवहारित द्रव्य ज्ञान और दर्शन का प्रभावक है और जिन प्रवचन का प्रचार करने वाला है। अर्थात् यदि संघ मे विद्या की कमी हो, यदि सघ मे सम्यक्त्व की न्यूनता हो तो उसकी पूर्ति के लिये, उसकी वृद्धि के लिये मगलद्रव्य का उपयोग हो सकता है और यदि सघ मे जिनप्रवंचन का कम प्रचार हो तो उसका विशेष प्रचार करने के निमित्त इस द्रव्य का उपयोग करना, व्यय करना शास्त्र सम्मत है। याने सघ के धार्मिक अगो, जिनकी नीव शारीरिक स्वास्थ्य, विद्या प्रचार, आत्मज्ञान

* "पवरगुण-हरिसजणय पहाणपुरिसेहिं ज तयाइएण।
एगाऽणेगेहि कय धीरा त बिंति जिणदव्व।।९५।।

मगलदव्व निहिदव्व मासयदव्व च सव्व मेगट्ठा।
आसायणपरिहारा जयणाए त खु ठायव्व" ।।९६।।
"जिणपवयणबुड्ढिकर पभावग नाण-दसणगुणाण।
वुड्ढतीजिणदव्व तित्थयरत्त लहइ जीवो (पृ० ४) ।।९७।।

की वृद्धि और जिन प्रवचन का प्रचार है, के लिये इस द्रव्य को व्यय किया जाय तो ऐसा कौन मूढ़ या ममत्वी होगा जो उसका निषेध करने की ढीठता करे। हरिभद्रसूरिजी के इन दोनों उल्लेखो से यह साबित होता है कि उस समय के चतुर आचार्यों को समाज से सामाजिक कार्यों के लिये जो द्रव्य मिलता था तदर्थ ही इन चारों शब्दो की योजना की थी एवं इन शब्दो के अर्थ से भी यही बात सिद्ध होती है। इस समय भी धर्मादाय दूकान मे किसी तीर्थंकर का नाम न चलाकर जो आणन्द जी कल्याणजी या डोसाभाई अभय चद का नाम चलाया जाता है इससे भी यह स्पष्ट होता हे कि इस दूकान का प्रबन्ध और धन यह सब कुछ मगलद्रव्य, शाश्वतद्रव्य या निधिद्रव्य है और जब आवश्यकता पडे तब उसे सघ के हितार्थ खर्च सकते हैं, इसमे किसी भी तरह का दोष लगता हो यह शास्त्र से, इतिहास-से, और उपरोक्त प्रमाणों से साबित नही होता।

अब तक के मेरे प्रस्तुत उल्लेख मे हरिभद्रजी के ग्रन्थो मे दिये मूर्तिवाद और देवद्रव्य की जडे बतलाने का जो मैंने प्रयत्न किया है उसमे मेरी मान्यतानुार प्रमाणिकता पूर्वक मैं इस बात को सिद्ध कर चुका हूँ कि ऊपर बतलाये हुये मध्यममार्ग के अनुयायियो ने, जिसका विधान विधिवाक्य अगसूत्रो मे उपलब्ध नहीं होता वैसे मूर्तिवाद को मात्र एक साधारण और जनहित के लिये नियोजित किया है और वह पीछे से अनेक धर्मो की देखादेखी वृद्धि को प्राप्त होता गया एव अन्त मे ऊपर कथनानुसार पाचवी और छठी शताब्दी के तान्त्रिक मत की प्रबलता हुये बाद वह हमारे समाज मे वज्रलेप जैसा और एकान्त विधेय के समान हो गया है, इतना ही नही बल्कि आधुनिक समय मे तो वह क्लेश का मूलकारण बन गया है। उसके कारण ही आज जैन समाज की प्रशसा वकीलो, बैरिस्टो और अदालतो मे भी गाई' जा रही है और प्रतिदिन समाज क्षयरोग से पीडित रोगी के समान विकराल काल की तरफ खिचा जा रहा है। तथापि इस मामाजिक व्यसन से समाज का मर्यादिन रहना तो दूर रहा किन्तु उसके अग्रगण्य आचार्य, मुनि और श्रीमन्त इस वाद की एकान्तता मे ही सिद्धशिला का पट्टा मिला समझते है। मुझे सिर्फ इसी बात का खेद होता है कि जिन पवित्र निर्ग्रन्थो ने लोकहित की दृष्टि से जिस वाद को नियोजित किया था वही वाद आज हमे अपना ग्रास बना रहा है, अहो!! कैसा भीषण परिवर्तन !! कैसा पैशाचिक विकार !! और अनेकान्तवाद की मुद्राछापवालों का भी यह कैसा भयकर एकान्तवाद !!!

अब मैं एक छोटी सी बात बतला कर अपने इस मुद्दे का यहाँ ही पूर्ण करने का विचार करता हूँ अत आप महाशयो से प्रार्थना करता हूँ कि आप

अधीर न होकर निम्न बात को भी सावधनता पूर्वक पढ़लेने की कृपा कीजिये। जिस द्रव्य का अग ग्रन्थों में कहीं भी उल्लेख नही मिलता, मात्र हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों पर से हम उस शाश्वतद्रव्य, मगलद्रव्य, निधिद्रव्य या जिनद्रव्य ऐसे एकार्थक नामों से पहचान चुके हैं और जिसके व्यय को सघहित के लिये शास्त्रानुमत साबित कर चुके हैं उस द्रव्य से लगते हुए शाश्वतद्रव्य जैसे व्यापक अर्थवाले जिनद्रव्य या देवद्रव्य शब्द के व्यापक अर्थ में संकोच क्यों किया गया? कब किया गया और उसके किस प्रकार के व्यय के सामने भयकर पापों को समन्वित किया गया यह प्रश्न है।

जिन महाशयों ने उपरोक्त इतिहास को मननपूर्वक पढ़ा होग वो तो स्वय ही इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर सके होगे तथापि मुझे विशेष स्पष्टता के लिये यह बतला देने की जरूरत है कि जब उस मध्यम मार्ग का अन्तिम स्वरूप उत्पन्न हुआ और उस निधिद्रव्य, जिनद्रव्य, शाश्चतद्रव्य या मगलद्रव्य की व्यवस्था करने वाले साधु हरिभद्रसूरि के शब्दो मे वर्णित स्वच्छंदी विलासी और दभी हुये तब वे महाशय अपने ममत्वास्पद इस सामाजिक एव पवित्र धन के वारिस-हकदान बने और कहने लगे कि इस द्रव्य का उपयोग तो हम ही कर सकते हैं, इसमें किसी अन्यक्षेत्र का जरा भी हम नही। भले ही दूसरे क्षेत्र कमजोर हो जायं तथापि इस द्रव्य का उपयोग उनकी पुष्टि के लिये नही हो सकता। वे इस द्रव्य पर अपना ही स्वामीत्व बतलाने के लिये यह भी कहने लगे कि यह जो देवद्रव्य या जिनद्रव्य है इस का उपयोग उसके व्यवस्थापक कर सकते हैं। देव की, देवमन्दिर की एवं उससे लगते हुये अन्य कर्यो की व्यवस्था हम करते हैं अत इस द्रव्य पर हमारे सिवा अन्य किसी क्षेत्र का हम सभवित नही है, न संभवित होगा और न ही सभवित होना उचित है। तदुपरान्त वे साधु जिन, जिनशासन, प्रवचन, जिनमूर्ति और जिनधर्म, इन सबके नाम से अधिकाधिक धन एकत्रित करने लगे तथा महाराजा लाइबलकेश वाले महन्त के समान किननेक महानुभाव तो नित्य नयी रासलीला जैसी धर्मरूढिया भी रचने लगे। उन्होने उस द्रव्य को बढाने के लिये और उसकी नियमित आय कायम करने के लिये प्रसग २ पर उस समय के संघ मे अनेक तरह के नये २ धतींग्ङ प्रचलित किये। उस समय का विचारा भद्रिकसध क्या करता? वह तो दर्वासा ऋषि जैसे उन ऋषियों के (?) शापके भय से कम्पित हो वे जो कहे उसे ही तहत्ति करने लगा और उनके मनघडित कायम किये हुए हकों के अनुसार धन भी देने लगा। उन्होने पूजा मे, तम मे अपनी लाग कायम की, शास्त्र पढाने के लिये और सुनाने के लिये द्रव्य कमाने की लाग कायम की। अनेक तरह के नये २

पत खड़े करके उस निधिद्रव्य को बढ़ाने की प्रवृत्ति चालू रक्ख और अन्त मे वे स्वयं एक प्रामाणिक गृहस्थ के दर्जे से भी इतने अधिक नीचे घिसर गये थे कि यदि उनकी यह स्थिति विशेष समय तक चालू रहती तो वे अपने मनुष्यत्व से भी हाथ धो बैठते ऐसा प्रसंग आ पहुँचा था।

उस समय उन्ही के सम्प्रदाय के एक सुधारक चैत्यवासी साधु श्री हरिभद्रसूरि ने कमर कसके उन्हें समझाना प्रारभ किया।`उस समय के एव भविष्य के जैन समाज को जागृत करने के लिये तद्विषयक अनेक ग्रन्थो की भी उन्होंने रचना की। उन ग्रन्थो मे चैत्यवासियों का सामना करने के लिये जो उल्लेख किये हैं उनमें यह भी लिखा है कि देव के नाम से, देवतीर्थ के नाम से और देव प्रवचन के नाम से जो द्रव्य सग्रहित किया गया है वह कोई एक व्यक्ति या समाज अपने विलास के कार्यों मे नहीं खर्च सकता, अपने स्वार्थ मे उसकी योजना नही कर सकता औ उसका किसी भी तरह दुरुपयोग नही कर सकता। यदि उस द्रव्य का उपयोग सम्यक्त्वकी वृद्धि के लिये, ज्ञानप्रचार के लिये और प्रवचन प्रचार के लिये न किया जाय और मात्र *किसी एक व्यक्ति या समाज के विलासार्थ ही उसका उपयोग किया जाय या* उस धन का व्यवस्थापक स्वेच्छापूर्वक उसका उपयोग करे तो वह उपयोग करने वाला अप्रामाणिक, दुष्ट और नरक के दु`खका हिस्सेदार होता हैं इतना ही नही बल्कि यदि उस पवित्र द्रव्य को अनेक [1] अविहित्त उपयोमे बढाया जाय तो वह बढाने वाला भी उतने ही अपराध का पात्र बनता है, अत उस शाश्वतद्रव्य, निधिद्रव्य, जिनद्रव्य, या मगलद्रव्य का उपयोग ऐसे मार्ग मे करना चाहिये जिससे उसकी ज्ञानदर्शन प्रभावकता एव प्रवचन प्रभावकता सफल हो। उस विशुद्ध द्रव्य का दरूपयोग होता देखकर जो मनुष्य उसके रोकने का प्रयत्न न करे उसे भी पपिष्ट की कोटि मे रक्खा है। इस प्रकार देवद्रव्य भोजी च त्यवासियो को हटाने के लिये हरिभद्रसूरिजी ने बहु कुछ लिखा है। परन्तु उन्होने ऐसा कही नही लिखा कि यदि उस द्रव्य का उपयोग ज्ञानप्रचार, प्रवचन प्रचार औरा सम्यक्त्वकी वृद्धि के लिये या सघ के हितार्थ किया जाय तो वह उपयोग करने वाला पापी या नरक गामी बनता है। प्रत्युत उन्होने इस द्रव्य को ज्ञानदर्शन प्रभावक और प्रवचन वृद्धि कारक के विशेषण देकर उन मार्गो मे उसका उपयोग करना सुविहित विहित बतलाया है, याने शिष्टसम्मत दर्शाया है। फिर भी यदि हम कदाग्रह या

१ "जिणवर आणा रहिय बद्धरता वि केवि जिणदव्व। बुडडतो भवसमुद्दे मूढा मोहण अन्नणी ।।१०२।। पृ० ४

स्वच्छंदता से उनकी आज्ञा न मानें और स्वच्छंद बर्ताव करें तो हम अपने सिवा और किसे दूषित गिन सकते है? उनके पूर्वोक्त उल्लेखो से यह भी मालूम होता है कि उस समय दोनो पक्षो ने शाश्वतद्रव्य या जिन द्रव्व शब्द की व्याख्या अपने २ बचाव के लिये जुदी २ की थी। एक पक्ष में संकुचित और दूसरे ने विशाल की थी। चैत्यवास की हिमायत करने वाले पक्ष ने कहा कि यह जिनद्रव्य हमारी पैत्रिक सम्पत्ति है, हम ही इसके वारिस हैं। हम स्वय ही देव, देवमूर्ति, देवमंदिर और देव प्रवचन की तमाम व्यवस्था करते है अत· हमारे सिवा अन्य कोई भी इस द्रव्य का उपयोगी नही कर सकता। दूसरे निरीह और शासन हितैषी पक्ष ने कहा कि यह साधुओं का आचार नही है कि वे द्रव्य का स्पर्श भी कर सके या मंदिरों की व्यवस्था करे। उनके पास या उनके अधिकार मे जो द्रव्य है वह मगलद्रव्य, जिनद्रव्य, शाश्वत द्रव्य और निधिद्रव्य है, इस लिये उसका उपयोग कोई एक व्यक्ति या समष्टि अतने निर्वाह या विलास के लिये कदापि नहीं कर सकता। उसका उपयोग तो ऐसे कार्यो मे करना चाहिये जिन कर्यों से जिन प्रवचन की वृद्धि, सर्वज्ञ के ज्ञान का प्रचार हो तथा जैन धर्म की ओर सर्वसाधारण जनता की विशेष प्रवृत्ति हो, अर्थात् जैन सघ के हितार्थ ही उस द्रव्य का वयय होना उचित है, यह बात सर्वथाा प्रामाणिक, शास्त्र से अबाधित और सुविहित विहित है। मुझे खेदपूर्वक लिखना पडता है कि वर्तमान समय मे यह स्थिति तो दूर रही परन्तु वह पवित्र निधिद्रव्य जो सर्घहित के लिये नियोजित किया गया है उसका उपयोग मात्र एक सकुचित क्षेत्र मे ही हो रहा है, परन्तु इस मे उस द्रव्य के व्यवस्थापको की ही स्वच्छदता कारण है। व्यवस्थापको का उस द्रव्य पर ममत्व होने से उसे वे अपने बाप की पूजी समझ बैठे हैं, इसी कारण अन्य धार्मिक क्षेत्रो (जिन क्षेत्रो की पुष्टि की वर्तमान काल मे विशेष आवश्यकता है) के लिये वह द्रव्य शूद्र के समान अस्पृश्यसा हो गया है और पोषण न मिलने मे वे क्षेत्र प्रतिदिन सूखते जा रहे हैं। आधुनिक काल मे जिन कारणो से उस द्रव्य की वृद्धि हो रही है उन मे से बहुत से कारण तो सर्वथा अविहित हैं और कितनेक कारण ऐसे है जिन पर विचार करने से हसी आती है। व्यवस्थापको की ममत्व पूर्ण सत्ता से उस द्रव्य का उपयोग हिसा के मूल हैं और उनमे सट्टे जैसे जूबे का भी समावेश होता है। जिन प्रवृत्ति का श्रीजिनभगवान ने निषेध किया हो उसके द्वारा जिन द्रव्य की वृद्धि करना या उसमे जिनद्रव्य का उपयोग करना यह श्री जिन भगवान के अनुयायियों को कितना अधिक शोभता है!!! यह बात उनके जैन नामको कितना सार्थक करती है!!! मानलो कि यदि हमारे पूज्य देव श्रीमहावीर भगवान आज

विद्यमान होते तो आजकल के कट्टर भक्त अवश्य उन पर द्रव्य चढ़ाते, उन्हें सुवर्ण ओर चांदी के फूलो से पूजते और इस प्रकार उनके पास अतुल धन का ढेर लग जाता, तो क्या उस धन को वह नग्नदेव अपने साथ उठाये फिरते या उसे अपनी मालकीयतका समझकर किसी गृहस्थ के वहा अपने नाम से जमा करते? मैं इस प्रश्न का उत्तर नकार मे समझ कर इतना कहता हूँ कि उस द्रव्य का उपयोग भगवान के नाम से चलनेवाले महावीर विद्यालय जैसे समाजोपयोगी कार्य मे होता और सो भी उनके ये ही भक्त करते। इस तरह करने मे, जिनद्रव्य के सकुचित अर्थ की भी कोई बाधा नहीं देख पड़ती। परन्तु विचार शून्यता के कारण उस जिनद्रव्य या देवद्रव्य के व्यवस्थापक अशास्त्रीय लकीर के फकीर बनकर वर्तमान समय मे उस पवित्र द्रव्य का (जो आज करोडो की सख्या मे विद्यमान है और जिसके खर्च से शिक्षण प्रचार द्वारा सारे जैन समाज का कल्याण हो सकता है) जिनाज्ञाविरूद्ध हिसाजनक मिले जैसे यांत्रिक कार्यो मे उपयोग किया जाता है, क्या यह किसी विचारक जेन के लिये दु:खप्रद बात नहीं है?

१६ वी और १९ वी शताब्दी ग्रन्थकारो के और वर्तमान आचार्यो एव मुनियो ने इस देवद्रव्य को भगवान श्रीमहावीर के नाम पर चढा कर यहा तक लिख मारा है कि- "भक्खणे देव-दब्बस्य+++सत्तमनिरय जति मत्तवारा हो! गोयमा!" अर्थात् मानो भगवान महावीर कहते है कि "हे गौतम! देवद्रव्य को खाने वाला सात दफा सातवी नरक मे जाता है, इस लिये किसी ने देवद्रव्य न खाना" मेरी मान्यतानुसार यह निषेध वाक्य हरिभद्रसूरिजी के विषेध से मिलता हुआ ही है और चैत्यवासियो के परम्परागत मस्कारो को नाश करने के लिये ही यह निषेध वाक्य लिखा गया है। इस बात को मैं भी दुरूपयोग न किया जाय, उसे चुराया न जाय, अप्रमाणिक रात्या न खर्च दिया जाय या निकम्मे कामो मे न उडा दिया जाय इसी कारण यह निषेध किया गया है। परन्तु ज्ञानदर्शन और प्रवचन की वृद्धि के लिये या उनके उद्धार के लिये इस द्रव्य का उपयोग किया जाय और उसके द्वारा सघके दुर्बल अगो को पुष्ट बनाया जाय तो उस प्रवृत्ति के सामने कोई शास्त्र या सूरि प्रमाणिक रीति से निषेध नही कर सकता।

जिनद्रव्य के समर्थ श्रीहरिभद्रसूरि उद्धोषणा पूर्वक विहित करते हैं तदनुसार ज्ञान प्रभावक, दर्शन प्रभावक और प्रवचन वृद्धि कर उस मंगल द्रव्य, शाश्वतद्रव्य, निधिद्रव्य या जिनद्रव्य का उसके विशेषणो के अनुसार उपयोग किया जाय तो इसमे जरा भी अप्रमाणिकता नही, लेशमात्र अशास्त्रीयता नही और कणमात्र दूषण भी नही है। इस प्रकार की वस्तु

स्थिति होने पर भी यदि हम * अपने कल्पित किये हुये और भगवान श्रीमहावीर के नाम पर आरोपित किये हुये जिनद्रव्य शब्द को और उसके अयुक्त संकुचित अर्थ को ही पकडकर अपने आग्रह, स्वच्छद एव सत्ता का पोषण करें तथा बर्तमान समय मे क्षीण होते हुये क्षेत्रों की उपेक्षा करें तो सप्तवारा हो! गोयमा,! उल्लेख हमारे सिवा और किस भद्रपुरूष को संघटित हो सकता है!!!

आज से कुछ वर्ष पहले श्रीमान् कुंवर जी भाई ने अपने लिखे हुये देवद्रव्य नामक निबन्ध मे उपरोक्त बात को बिल्कुल स्पष्टतापूर्वक पुष्ट की है। उन्होने लिखा है कि "श्राद्धविधि तथा योगशास्त्र दीपिका आदि अनेक ग्रन्थों कहा है कि पुण्यवन्त श्रावको को चाहिये कि वे पुण्य धर्म की वृद्धि के लिये तथा शासन के उद्योतके निमित्त जिनमन्दिर, धर्मशालाये, पोषधलायो, उपाश्रय, ज्ञानके भण्डार, प्रभुके आभूषण, प्रभुके पधराने के रथ, पालिकिये, इन्द्रध्वजाये, चामर, चैत्य के उपकरण, तथा ज्ञानके उपकरण वगैरह अनेक वस्तुये अपने द्रव्य से अथवा प्रयास से निष्पन्न हुये देव्दव्य से बना बनाकर उन साहित्यो से शासन की उन्नति करके बादमे बाद मे उनकी व्यवस्था देती रहे वैसा वन्दोवस्त करके अथवा कुछ द्रव्य की आमदनी करके श्रीसंघ को सार सभाल करने को सौंप दें" (देवद्रव्य पृ० ५)

जब इस उल्लेख द्वारा देवद्रव्य के खर्च से ज्ञान के उपकरण बनाने की अनुमति दी गई है तो वर्तमान काल में समाज मे शिक्षण का प्रचार करने के लिये हम उसी द्रव्य से राष्ट्रीय पाठशालाये, राष्ट्रीय महाविद्यालय और राष्ट्रीय विश्वविद्यालय स्थापित करे तथा उसके साधन छात्रालयो, छात्र वृत्तियो और पुस्तकालयो मे उस द्रव्य का व्यय करे एव तदुपरान्त सघरक्षा के मूलभूत सघ के स्वास्थ्यकी रक्षार्थ उस द्रव्य द्वारा जगह २ ब्रह्मचर्याश्रम, औषधालय, व्याशमशालायें स्थापित करे तो इसमे कौनसा शास्त्र निषेध करता है? मेरी मान्यतानुसार तो इस प्रवृत्ति मे हमारे कुलगुरूओ एव व्यवस्थापको का कदाग्रह-सत्ता और स्वच्छन्दता के सिवा अन्य कोई भी रोडा नही अटकाता।

बहुत लंबे समय से आजतक हमारे दर्शन (सम्यत्तव) की शुद्धि और वृद्धि के निमित्त उस मार्ग में बहुत-सा धन खर्च हुआ और उसका पानी समान अमर्याद उपयोग किया गया है, यदि अब से एक सौ वर्ष तक भी हम उस मार्ग

*न हु देवाण वि दव्व सगविमुक्काण जुज्जए किमवि। नियसेवगबुद्धीए कप्पिय देवदव्व त ।।(९०) सबोधप्र० पृ० ४

में व्यपन करें तथापि उस क्षेत्र में कुछ हानि होने का संभव नहीं है। फिर भी इस क्षेत्र के विषय में मैं इतना तो जरूर कहूँगा कि जो जीर्ण जिनालय हों या अपूर्ण हों उन सब को सुधरवाने के लिये एव पूर्ण करने के लिये इस द्रव्य का मर्यादित उपयोग होना आवश्यक है।

इस प्रकार मे बुद्ध के मध्यम मार्ग के असर से प्राप्त हुये जैनमध्यम मार्ग का इतिहास देकर उसके प्रारंभिक सूरियों की अकिंचनता बतला कर, उन सूरियो की प्रजा की अकिचनता और लोकहितार्थ धनग्राहित एव इस मुद्दे मे उस समय के बाद की साधु प्रजा की धन लोलुपता और स्वच्छदता बतला चुका हूँ। उस धनलोलुप चैत्यवासी प्रजाने उस द्रव्य के शाश्वत द्रव्य, जिनद्रव्य, मंगलद्रव्य और निधिद्रव्य जैसे विशाल अर्थवाले शिष्ट सम्मत नामों पर हड़ताल फेर कर अपने बचाव के लिये उनका संकुचित अर्थ उपस्थित कर समाज को भ्रम मे डालने की बात भी स्पष्टतया विदित कर दी गई है। यह बात भी प्रगट हो गई है कि आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि ने उन नामो को ज्ञान दर्शन प्रभावक और प्रवचन वृद्धिकारक के विशेषण देकर उन सब का विशाल अर्थ ताजा करके और उस अर्थ को ही सामने रखकर चैत्यवासियो की खूब मट्टी पलीद की है। उस समय के पीछे के साहित्य मे जो भक्खणे देवद्रव्यबस्स का उल्लेख मिलता है उसका असली भाव भी ऊपर बतला दिया गया है। इन सब बातो का सार यह निकलता है कि वर्तमान मे मात्र हमारे आग्रह एव विवेकसे ही हम इन मब मरल और शिष्ट उल्लेखो का उलटा तथा अशिष्ट अर्थ करके उन्हे विकृत करते हैं और ऐसा करके हम माधन होने पर भी पादे कुठार की प्रवृत्ति मे लीन हो रहे है। इस प्रकार मैंने यथामति मूर्तिवाद और देवद्रव्यवाद, जिन के विधान की बू तक भी अग ग्रन्थो मे नही मिलती उन्हे सूत्र पीछे के साहित्य के प्रमाणो की और उस समय के उपलब्ध इतिहास की सहाय मे आपके ममक्ष चर्चास्पद रीति से उपस्थित किये हैं। अब मैं अन्त मे तत्व ग्राह्म या तत्व परीक्ष्य विवेकिभि कह कर इस द्वितीय मुद्दे को यहा ही समाप्त करता हूँ?

जैन कथानुयोग।

प्रारभ मे की हुई अपनी सूचना के अनुसार अब यहा पर मुझे चैथे आगम-वाचन वाद का प्रारभ करना चाहिये। परन्तु आप को स्मरण होगा कि इससे पहले मैंने जैन कथानुयोग और श्वेताम्बर दिगम्बर मूर्तिवाद की भी समालोचना करने का वचन दिया था, तदनुसार उस सम्बन्ध मे कुछ लिखकर प्रस्तुत मुद्दे को बनते तक शीघ्रता से आप को समक्ष रखने की विस्मृति न करूँगा। जैन कथानुयोग की समालोचना करना यह एक इमली के पत्ते गिनने के समान दीर्घ सूत्री कार्य है, परन्तु स्थाली पुलाक न्याय से चाहे जैसे दीर्घकाय पुस्तक या साहित्य की भी समालोचना हो सकती है और समालोचक समाज मे उस तरह की प्रवृत्ति भी प्रामाणि मानी जाती है, अत मैं भी पूर्वोक्त न्याय का अनुसरण करके प्रस्तुत समालोचना का उत्क्रम करता हूँ।

जैन कथानुयोग मे आनेवाले वृत्तान्तो के मुख्य दो प्रकार हैं। एक चरित विभाग और दूसरा कल्पित विभाग। उन मे जो चरित्र विभाग है उसके सम्बन्ध मे मुझे खेदपूर्वक लिखना पडता है कि उस विभाग मे चरितता बहुत ही कम नजर आती है, परन्तु पौराणिकता की मात्रा इतने अधिक प्रमाणो मे बढ गई है- बढादी गई है कि जिससे उसे अब चरित विभाग का नाम देना भी कठिन प्रतीत होता है। उस विभाग मे अतिशयोक्ति तो इतनी की गई है कि जिसकी मर्यादा भी कायम न रहने से वह अलकार रूप मे नही घट सकती। भगवती सूत्र मे जहा पर किसी की दीक्षाका वर्णन आता है वहा वह दीक्षित होने वाला राजा हो या रक, ब्राह्मण हो या वैश्य परन्तु उन सब के लिये एक समान और एक साथ तीनलाख (रूपये(का खर्च बतलाया है, याने दीक्षा लेनेवाले को दीक्षा लेने को देना चाहिये, एक लाख का रजोहरण लेना चाहिये और एक लाख का पात्र लेना चाहिये। यह उल्लेख जितना मर्यादा विरूद्ध है उतना ही शास्त्र विरूद्ध है। कदाचित् किसी धनवान ने दीक्षा लेते समय क्षौर करनेवाले नापित को एक लाख का इनाम दिया हो यह सम्भव हो सकता है, परन्तु एक लाख का रजोहरण और एक लाख का पात्र किस तरह संभवित हो सकता है? यदि कदाचित् यह कहा जाय कि हीरा रत्नजड़ित रजोहरण तथा वैसा ही पात्र लिया जाय तो यह बात सघटित हो सकती है, परन्तु ऐसा करते हुये दीक्षा लेनेवाला दीक्षा लेते ही जिनाज्ञा का लोप करता है। यदि उसे हीरा और रत्न रखने हो तो निर्ग्रन्थ बनने का कोई कारण ही

नही रहता। हीरा और रत्न रखने से निर्ग्रन्थ की निर्ग्रन्थता पर पानी फिर जाता है। सूत्रों में आये हुये चरित विभाग में ऐसे अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन सूत्र के मूल मुद्दे को हानि पहुँचाते हैं। ऐसे वर्णनों से हमारा कथानुयोग कैसा शोभता है इस पर विचार करके पाठक स्वय ही न्याय करें।

भगवान वर्धमान के लिये लिखा गया है कि उन्होने दीक्षा ली तब उनके पास इन्द्र का दिया हुआ देवदूष्य था, जिसका मूल्य बाद मे लाख सुवर्णमोहरो जितना माना गया था। यहां पर मैं प्रश्न करता हूँ कि निर्ग्रन्थों के नामक और कठिन त्याग के प्रवर्तन भगवान वर्धमान, जिनके मुख्यशिष्य सुधर्मा ने उनके नाम से जम्बू को यह सदेश दिया था कि भगवान वर्धमान ने फटा टूटा और उतारा हुआ वस्त्र वह भी कारण पडने पर ही रखने की अनुमति दर्शाई है ऐसे समर्थ त्यागी ज्ञातपुत्र के जीवन मे यह देवदूष्य वाली बात सगत हो सकती है? मानलो कि वे उस वस्त्र को अमूर्छाभाव से रखते थे, परन्तु ऊपर कथन की हुई अनुमति के दर्शानेवाला स्पर्श भी किस तरह और किस कारण से कर सकता है? वर्तमान समय में भगवान वर्धमान जैसे असहकारके प्रबल प्रवर्तक महात्मा गाधी यदि अमुक कारणपूर्वक और प्रजा के हित के बहाने से सरकार के साथ सहकार करे और दूसरो को असहाकार का उपदेश दे यह बात जितनी सगत या असगत मालूम देती है उतनी ही भगवान वर्धमान के लाख सुवर्णमोहरो के वस्त्रवाली बात भी सगत या असगत मालूम होती है। कहा जाता है कि भगवान महावीर ने राजपिड या देवपिड मुनियो के लिये निषेध किया है, परन्तु इस जगह तो वे देवपिड के निषेधक भगवान वर्धमान स्वय ही लाख स्वर्णमोहरों के मूल्यवाले देवदूष्य को ग्रहण करते है यह कैसी सगत और सुशोभित घटना है? इस बात पर पाठक स्वय ही विचार कर ले। निषेधक स्वय जिस निषेध का अनुसरण न करता हो और निषेधाज्ञा को प्राचारित करना इच्छता हो उसका बर्ताव मनसि अन्यत् वचसि अन्यत्-अर्थात् मन मे कुछ और वचन मे कुछ और जैसा माना जाता है। इस तरह के मात्र जबान से कहने वाले निषेधको को आज कोई बात तक नही पूछता और न ही उनके जीवन की कुछ कीमत है। हमारे ग्रन्थकारो ने ऐसे २ अनेक बाते लिखकर कितनी एक जगह तो पुराणो को भी मात कर दिया है। ऐसा करके जिनशासन की प्रभावना की है। कैसी सुन्दर प्रभावना और कैसा सुन्दर उसका उपाय!!! कहा जाता है कि भगवान महावीर जब देशना देते तब देवताओं के द्वारा तीन किले-गढ रचे जाते थे। वह भी पाषाण के नही बल्कि चादी स्वर्ण और रत्नो के होते थे। कैसी विचित्र बात है कि एक निर्ग्रन्थ को सादी और सत्य बात कहने के लिये सूत्रो मे जगह २ पर वर्णित शिलापट्ट या

वृक्ष की छाया पर्याप्त है, परन्तु ऐसी सादी प्रथा को पसद न करने वाले हमारे ग्रन्थकारो ने उसके बदले चादी, सोने और रत्नों के तिगडे की रचना करने में कैसी कुशलता का परिचय दिया है!!! मुझे तो यह एक बिल्कुल विचित्र बात मालूम देती है कि उपदेशक भी किले मे घुसकर उपदेश देते होंगे या उन्हें किसी के डर से किले मे बैठकर उपदेश देना पडता होगा? इस प्रकार उपदेश और किलों के बीच किसी तरह का सम्बन्ध न होने पर भी उन्होंने उपदेश के समय जो तीन किले, कितनी एक वापिकाये-बावडिया एवं कितनेक नाटक भी बना दिये हैं और खुद भगवान महावीर को भी चतुर्मुख बना दिया है, उनकी इस शिल्पकला के सामने विश्वकर्मा को भी शर्माना पडा होगा। भगवान महावीर सर्वज्ञ थे इस बात को हम सब मानते हैं, इससे हम उनकी सर्वज्ञता का लाभ लेकर अपने माने हुये और प्रसाद्य पुरूषो के नामोल्लेख उनके मुख से बनावटी रीति से करावे यह कितना अनुचित कार्य है और भगवान महारीर की आशातना करने वाला है इस बात का विचार विचारक स्वय कर सकते हैं। मैं यह कहूँ कि उस महापुरूष ने अपने पवित्र मुख से मेरे पिता का जीवन चरित्र कथन किया था। आप कहे कि महावीर ने भी हमारे सगे-सम्बन्धियो को याद किया था तो क्या यह मब कुछ असभवित और निषेध्य नही है? इस तरह की निर्मूल बाते हमारी मूर्खता का ही परिचय देती हैं। श्रीहेमचद्रसूरि ने अपने बनाये हुये वीर चरित्र मे भगवान वर्धमान के मुख से राजा ¹ कुमार पालकी प्रशसा करा कर उसे खुश करने का जो लाहा लिया है वह ऊपर लिखी हुई प्रशमासे कुछ कम नही है। इस प्रकार के अनेक कल्पित उल्लेखो से भगवान महावीर के चरित्र की ऐतिहासिकता मे कितनी अधिक क्षति आई है? इस का जवाब एक इतिहासज्ञ विचारक के सिवा अन्य कौन दे सकता है? महावीर का माहात्म्य बढाने के यिले उनकी नग्नता के बदले सवस्त्रता कहे तथा सुवर्ण, मणि और हीरा जवाहरात के तिगडे से ही या देव देवियो की दौडधूप से ही उनके माहात्म्य का उत्कर्ष होना समझे तो माहात्म्य को समझने का यह प्रकार सर्वथा अनुचित और विपरीत है, एव आडम्बरी सामग्री द्वारा एक परम त्यागी योगी की परीक्षा करने के समान * हास्यास्पद है। इसके-उपरान्त ऐसी अन्य भी बहुत-सी बाते हैं जिन से हमारा जो चरित्र विभाग ऐतिसासिक गिना जाता है वह भी पुराण जैसा हो गया है यह कुछ कम खेद की बात नही है। यहा पर मै प्रकृत विषय का मात्र एक ही उदाहरण देकर अब कल्पित कथाओ की ओर आप का ध्यान खीचूँगा।

वीरचरित्र मे आई हुई भगवान महावीर के मुख से कुमार पालकी प्रशसावली बात मात्र हेमचन्द्रसूरि रचित बीरच रित्र मे ही मिलती है अतएव उसे मैं कल्पित मानता हूँ।

* "देवागम-नभोयान-चामरादिविभूतय । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नाऽतस्त्वमसि नो महान्"।।

एक जगह इन्द्र की उस ऋति का वर्णन किया गया है जि ऋति को लेकर वह राजा दशार्ण के समय भगवान महावीर को वन्दन करने आया था। वहां पर बतलाया है कि उस इन्द्र के ६४००० (?) हाथी थे, प्रत्येक हाथी के आठ २ दॉद थे, प्रत्येक दॉद पर आठ २ वापिकाये थी, प्रत्येक वापिकामे आठ २ कमल थे, जितने कमल थे उतने ही प्रमाण मे उनकी कर्णिकाये थीं, प्रत्येक कर्णिका पर एक २ प्रासाद इद्रानियो के साथ एक २ इंद्र बैठा था और उस प्रत्येक इद्र के सामने बत्तीस प्रकार का नाटक हो रहा था, जिस में एक सौ आठ देवकुमार और एक सौ आठ देव कन्यायें पार्ट करती थीं- अभिनय करती थी। (देखो-वृद्ध ऋषिमडलस्तव, आवश्यकचूर्णि और श्राद्धविधि पृ० ५०-५२)।

इस वर्णन के सामने तो पुराण के वर्णन भी फीके मालूम देते हैं। इसमे हाथी के दॉतो पर पानी की वापिकाये होने का जो उल्लेख किया है वह तो सर्वथा ही असत् मे सत् करने जैमा, शिलापर कमल जमाने के समान और देश, काल शास्त्र एव रूढी विरूद्ध है। उसमे मुख वगैरह की अन्यान्य सख्या मे भी विचारणीय हैं। परन्तु यह तो कल्पना का विषय होने से कदाचित् अमर्यादित अतिशयोक्ति मे समाविष्ट हो सकता है, किन्तु दॉतो पर जलवापिकाओ का होना तो बिल्कुल ठडे पहर की गप्प मालूम होती है। वर्तमान समय मे इस प्रकार की अनेक कथाओ द्वारा उपाश्रयो मे बैठकर रेशमी, खीन-खाब और जरी के तिगडे मे पाट पर विराजमान होकर हमारे कुलगुरू श्रोताओं को रंजित कर रहे हैं, यह देखकर मुझे तो चौपाल मे बैठकर अफीमची किसानो के सामने गप्पे मारते और हूँकार करते चारणो की स्मृति आ जाती है। आश्चर्य तो यह होता है कि व्यापारविद्या मे अतिनिपुण वणिक समुदाय बिना विचार किये धन्वाणी और तहत्त वचन की गर्जनाये किस तरह करता होगा? पुण्यविपाक और पापविपाक की कथाओ एव अन्य कथाओ के अधिक विभाग मे मैने ऐसे २ अनेक वर्णन देखे है, इसमे इन कथाओ को इस वर्णन से उतरती कैसे कहा जाय? जिस साहित्य मे चरित विभाग भी पौराणिक स्वरूप की स्थिति भोगता हो उसके कल्पित कथ विभाग का तो कहना ही क्या है!!! कल्पित कथाओ मे उनके रचनेवालो ने साहित्यशास्त्रों की मर्यादा और कार्यकारण की व्यवस्था का भी पूरा ख्याल नही रक्खा। वे कहते है कि जो परिग्रह का परिमाण करता है वह अतुल धन सम्पत्ति के परिग्रह का भोगी बनेगा, साधुओ को दान देने से दान देने वाला चक्रवर्ती जैसा सम्राट होगा। जो यहा पर ब्रह्मचर्य पालन करेगा वह फिर हजारो देवियो का चिर सगी बनेगा। इन बातो पर यदि आप विचार करेंगे तो मालूम

होगा कि जो हेतुरूप पदार्थ हैं उन दोनों के बीच कितना अधिक विरोध रहा हुआ है। परिग्रह के अनिच्छुक को अतुल धन सम्पत्ति किस तरह मिल सकती है? दान देने वाला चक्रवर्ती सम्राट किस तरह बने? और ब्रह्मचर्य का संस्कारी सुधरा हुआ व्यभिचारी कैसे बन सकता है? इस तरह की असंगतियों के उपरान्त कितनी एक ऐसी कल्पित कथायें भी घड़ी गई हैं कि जिन से विशेषतः संस्कारो और मनोवृत्ति पर आधारित कर्मबन्ध की व्यवस्था को भी बडा भारी धक्का पहुच है।

कुवर जी भाई के देवद्रव्य नामक निबन्ध मे आप ऐसी अनेक कथायें देख सकते हैं जिस से उपरोक्त बात भली भाँति ध्यान मे आ सकती है (देखो ऋषभदत्त की कथा पृ० ११) इस कथा के मालिक ने स्वकार्य में व्यग्र होने से देवद्रव्य से लगती विस्मृति की थी इससे उस बेचारे को भैंसे की योनि मे भेज दिया। मुझे तो यह मालूम है कि "माया तैर्यग्योनस्य," अर्थात् तिर्यंचता का हेतु दम्भ है। यहा पर तो कथा कराने विस्मृति के परिणाम में ऋषभदत्तशेठ को भैंसा बनाया है, परन्तु उसने जो परिधापनिका उधार लेकर जिन पूजा की थी उसके परिणाम में उसकी इन्द्रों से पूज न कराई, यह वदतो व्याधात , जैसी बात है। अब सागरशेठ की कथा का भी नमूना देखिये, पृ० १३। इस कथा मे सागरशेठ ने चैत्यद्रव्य से चैत्य के कारीगरो मे व्यापार किया था, उस व्यापार से उसने मात्र १२।। रुपये का नफा लिया था, उसके परिणाम मे उसे जलचर होना पडा, ६ महीने तक वज्र की चक्की मे पिसना पडा, फिर तीसरी नरक मे गया, मच्छ बना, चौथी नरक मे गया, पहली नरक से लेकर सातवी नरक तक अनेक बार गया, फिर हजार दफा सूवर, हजार दफा बकरा, हजार दफा हरिण, हजार दफा खरगोश, बारहसीगा, गीदड, बिलाव, चूहा, न्यौल, छपकी, गोय, सर्प, बिच्छू, कृमी, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वृक्ष, शख, जोख, कीडा, कक्खी, भ्रमर, मच्छर, कछुआ, रासभ, भैंसा, अष्टापद, खच्चर, घोडा, हाथी, व्याघ्र, और सिंह वगैरह की योनि मे उसने हजार २ बार जन्म धारण किये इतना ही नही बल्कि कथाकारने तो उसके सिर पर इससे भी विशेष दुर्दशा का पहाड रख दिया है। मेरी मान्यतानुसार उस सागरशेठ ने चैत्य की जो अवैतनिक सेवा की थी उसके बदले मे कथाकारी की दृष्टि से वह अवश्य दिव्य पुरूष होना चाहिये था, परन्तु कथा मे इस विषय का इशारा तक भी नही किया!!! मैं मानता हूँ कि अन्याय करनेवाला दण्ड का पात्र अवश्य है परन्तु वह दण्ड अन्याय के प्रमाण मे ही उचित होता है। ऊपर बतलाये हुये सागरशेठ का न्याय करनेवाली फौजदारी कोर्ट, उसका न्यायधीश और उसकी धारा सभा मुझे मानुषिक नही प्रतीत

होती। और भी देखिये श्रेष्ठिकथा पृ० २२। इस कथा में कथाकारने कथागतशेठ का कुछ विचित्र ही चित्र दुखी करने के लिये शेठ के चिने जाते हुये एक घर में जे मंदिर की ईंटका टुकडा वह भी किसी को मालूम न हो इस रीति से दीवार मे चिन दिया। इस काम के परिणाम मे इस बात को न जाननेवाला और न करनेवाला भी शेठ उस घर में रहने से निर्धन हो गया। इस कथा मे तो कथाजोडनेवाले ने कोई नवीन ही कलम-कानून लगाई है जिससे अपराधी तो मुक्त हुआ अपराध न करने वाला और उस बात को न जाननेवाला सर्वथा रिनपराधी दण्डका शिकार बन गया। धन्य है कथाकार की चतुराई को!!! इस कथा को अकृतागम के भयकर दूषण को भी नही समझा। कैसा सन्दर न्याय? इस सम्बन्ध मे मैं ज्यो २ विशेष लिखती हूँ त्यो २ मुझे अधिक खेद होता है कि श्रीयुत् भाई मोतीचन्द सोलीसीटर कापड़िया जो पुराणो का उपहास करते हे वही सज्जन पुराणो को भी पीछे हटानेवाली ऐसी निर्मूल कथाओं को आदर्श कथा किस तरह मानते होगे?

मैं यहा पर ऐसी कितनी कथाओ का उल्लेख करू, जहा पर थोडे से अपवादो को छोडकर इसी प्रकार की कथाओ का बडा सागर उछलता हो वहा पर उचितानुचित का पता ही कहा लग सकता है? जिन पाठको को ऐसी कथाओ को देखने की इच्छा हो उन्हें पउमचर्यय, विजयचन्द केवली चरित्र, श्राद्धविधि, उपदेश सप्तति द्रव्यसप्तति और श्रीपालरास इत्यादि मूलग्रन्थ या उनके भाषान्तर देखलेने चाहिये और उन्हे पढ़ेबाद यदि पाठको को यह मालूम हो कि मैंने जो कहा है वह असत्य है तो उस विषय मे मुझे लिखने की कृपा करे। कथाओं की बात तो दूर रही किन्तु कितनेक ऐसे ग्रन्थ भी रचे गये हैं और उन्हे उन ग्रन्थकारो ने सीधा श्रीवर्धमान के नाम पर ही चढ़ा दिया है। पउमचर्य के कर्ताने अपने रचे हुये पउमचर्य को भी भगवान वर्धमान के नाम पर पटक दिया है!!! भग्वाती सूत्र को सकलित करने वाले ने अपनी सकलना को श्रीवर्धमान और *गौतम के प्रश्नोत्तर मे सकलित किया है!! वसुदेवहिण्डि के जौडनेवाले ने अपनी जोड़ को सुधर्मा और वर्धमान के समय की बतलाई है? वर्धमान देशनाके रचयिता ने अपनी मन पूत देशना का वर्धमान देशना नाम रक्खा है!! इस तरह की रीति का अनेक ग्रन्थो मे अनुसरण किया गया है और वह आजतक के ग्रन्थो मे भी किया जाता है। सोलहवी शताब्दी मे होने वाले रत्नशेखरसूरि ने अपने बनाये हुये श्राद्धविधि

* समवायाग और नदीसूत्र मे भगवती सूत्र के विषय का वर्णन दिया है, उस मे श्रीवर्धमान और गौतम के प्रश्नोत्तरो के उल्लेख की गधतक नही है।

प्रकरण में लिखा है कि श्रीवर्धमान ने अभयकुमार के प्रश्नों का उत्तर दिये थे उनका मैं इस श्राद्धविधि नामक ग्रन्थ में संग्रह करता हूँ! कहां तो दो हजार वर्ष पहिले के श्रीवर्धमान और अभयकुमार? और कहां यह परसों होनेवाले रत्नशेखरसूरि? तथापि कदाचित् किसी विद्या के बल से वे सिद्धशिलातक (?) पहुँचे हों और वहां पर विराजमान श्रीवर्धमान और अभयकुमार को पूछकर उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया हो तो यह ऐसे महापुरूषो के लिये सम्भवित है!!!! इस तरह के अनेक ग्रन्थ, गाथाये और आज कल तो दोहेतक घडने वाले वर्तमान समय मे श्रीवर्धमान के ही नाम से कमा खाते है। तथापि हम श्रीवर्धमान के कितने अधिक भक्त बन गये हैं कि किसी की भी घड़न्त मे श्रीवर्धमान का नाम आते ही विवेक को भी एक तरफ रखकर हांजी हां कह कर अपना ही अहित करते हैं। हमारे चरित विभाग और कल्पित कथा विभाग की स्थिति इतनी अधिक खराब है कि यदि उसका पृथक्करण नही किया गया और कल्पित कथाओ को बुद्ध की जातक कथाओं के समान मानुषिक रीति से सम्भवित साचे में ढाला गया हो कुछ समय के बाद उसे कोई सूंघने तक की भी पर्वाह न करेगा। अब अधश्रद्धा का समय बहुत व्यतीत हो चुका है। मैं मानता हूँ कि गहिलभक्ति के आवेश से हम भयंकर अनर्थो को कर डालते हैं और इसी कारण हम देव, इन्द्र शक्र, शतक्रत, पुरदर, मघवा, मेरू और शची वगैरह के मूल और मुख्य अर्थों तक न पहुँच कर उसके पौराणिक रूप अपने साहित्य मे मिलाकर साहित्य को विकृत कर रहे हैं, एवं पूर्व के कथाकारो ने भी इसी कारण इस तरह का विकार पैदाकर साहित्य को बिकारित करने मे कुछ कचास नही रक्खी। उन कथाकारो का एक ही उद्देश्य था कि कथाओं मे चाहे जैसे भयकर भय और बडी २ उधाररूप लालचे दिखला कर लोगों को सन्मार्ग पर लाना, केवल इसी धुन में उन्होने मात्र पुराणों की रीति का अनुसरण करके और साहित्य शास्त्र, तथा धर्मशास्त्र, एव काल्पनिक विषय की मर्यादा का लोप होने तक भी पीछे फिरकर न देखा। इससे उनके सदुद्देश के बदले वर्तमान मे ऐसा विचित्र परिणाम उपस्थित हुआ है कि नगद धर्म को छोड़कर मनुष्य उधार धर्म के पथ मे पडकर दिन प्रितिदिन अध· स्थिति प्राप्त करते जा रहे हैं और हमारा यह अध पात कहा जाकर अटकेगा यह भी मालूम नहीं होता। बस इस विषय में इससे अधिक कलम चलाकर मैं आप को कष्ट देना नहीं चाहता।

मैं पहले कह चुका हूँ कि हमारे कुलगुरूओ ने कितनेक अपने भीतरी मतभेद गृहस्थियों में भी घुसा दिये है, गृहस्थियो को भी उन्होंने अपने जैसा कलही बना कर अपने गुरूधर्म का कर्तव्य पालन करने में जरा भी त्रुटि नहीं

रक्खी। मैं मानता हूँ कि चैत्यवास हुये बाद मुनियो अन्तिम तीन चार उद्धार हुये हैं तथापि वे अभी तक अपने मूलमार्ग पर आये हुये मालूम नहीं देते, तुरन्तु धीरे २ निम्नगा के समान वे निम्न प्रवाह में ही बहे जा रहे हैं और कितने एक झगडे श्रीवर्धमान के नाम पर चढ़ाकर हमें भरमा रहे हैं। चौथ के शौकीन भक्त कहते हैं भगवान वर्धमान स्वयं कथन कर गये है कि मेरे बाद अमुक वर्ष मे कालक सूरि होंगे और पंचमी की चौथ करेंगे अतः चैथ को छोड़कर भगवान की आज्ञा भंग न करनी चाहिये। पंचमी के शौकीन भक्त कहते हैं कि प्रथम से तो पंचमी ही थी अत पचमी को ही मानना चाहिये। यदि इस विवाद के लिये इतिहास की राय ली जाय तो वह स्पष्टतया जाहिर करता है कि इस विषय में जो परमयोगी वर्धमान का नाम लिया जाता है वह सर्वथा निर्मूल बात है और यह मात्र अपने पक्ष को महान् पुरूष के नाम पर चढ़ाकर कमाखाने की कलाके सिवा अन्य कुछ भी नही है। वेदिको का यह पुराने में पुराना ऋषि मचमी का त्यौहार है। उस त्यौहार के उत्सव के अनुसार जैनियों ने भी मुनियों की स्थायिस्थिति के (चातुर्मासिक स्थिति के) प्रारंभ काल की निश्चित मर्यादा बतलाने के लिये उसे पर्वदिवस रूप से माना हुआ है अतः इतिहास तो रूढ परम्पराकी दरकार न करके पचमी के पर्व को स्वीकारने मे ही अपनी प्रामाणिकता समझता है। एक यह भी बात है कि जिस कारण से पचमी की चौथ की गई थी अब वह कारण प्रतिवर्ष नही होता, इससे किसी मजबूत कारण सिवा पचमी की प्राचीन परम्परा का लोप करना यह भी एक प्रकार का मर्यादा भजक आग्रह है। दिगम्बर सप्रदाय भी अपने इस पर्व को पचमी से प्रारम्भ करके इसी बात की पुष्टि करता है। तथापि कदाचित् इस युग के बन्धु (साधु और श्रावक) इस स्पष्ट एव सादे सत्य की ओर न झुक सकते हो तो भले ही अपनी इच्छानुसार वर्तें परन्तु इस के लिये कलह करके वीर के पुत्र पन का वीरत्व न दर्शावे इतना ही बस है। इसी तरह अधिक मास का क्लेश भी निर्मूल है और यह लौकिक है। जब हम लौकिक पर्वों को स्वीकार करते हैं तो फिर उनकी व्यवस्था भी उसी के आधार से करनी चाहिये। अत इस अधिक मास का निराकारण भी लौकिक रीति से शीघ्र ही हो सकता है, तथापि ममत्ववश ऐसी साधारण बात मे भी महापुरूष वर्धमान के नाम से उनके प्रवचन को लाछित करके न जाने ये आडम्बरी लोग क्या करना चाहते है? इसी प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बरो मे जो मूर्तिपूजा से लगता भीषण झगडा चल रहा है उसका मूल कारण भी ये दोनों पक्ष के कुलगुरू ही हैं। मूर्तिपूजा का उद्देश देखने पर यह बात सम्भवित नहीं होती कि मूर्ति को कन्दोरा होना ही चाहिये, मूर्ति को आँखे

होने पर भी उनके ऊपर बड़ी २ चश्मा जैसी बनावटी आँखें लगानी ही चाहिये या मूर्ति को नग्न ही रखनी चाहिये। मूर्तिपूजक मूर्ति के कन्दोरे, चश्मे या नग्नता से किसी तरह का बोध प्राप्त करते हों यह सम्भव नहीं, किन्तु वे मात्र मूर्ति के प्रशान्त मुखमण्डल से या उसकी योगिमुद्रा से इस प्रकार का भाव प्रगट करते हैं कि ऐसी शमावस्था यह आत्मा का मूलगुण है और इस शान्ताकृति को देखकर किस तरह प्राप्त करना, ऐसा प्रयत्न करते हैं। न्याय की दृष्टि से विचार करने पर यह मालूम हो सकता है कि उपास्यदेव की जो स्थिति हमे पूज्य हो, प्रिय हो या स्मरणीय हो उसी स्थिति की मूर्ति हो तो वह विशेष संगत है। यदि उपास्य की हमें सन्यस्तस्थिति पूज्य हो तो उसकी सन्यासी जैसी ही मूर्ति आदरणीय हो सकती है। उसके स्थिति के अनुरूप मूर्ति रखने पर भी यदि हम उसके पास या सम्मुख सन्यासी के मठ जैसा वातावरण न रक्खें तो वह उपास्य की पूजा नहीं किन्तु उसकी विडम्बना है। ससार का कोई भी सन्यासी वस्त्र भरण नहीं पहनता, सिर पर काष्ठतक का भी मुकुट नही रखता, वह कानों मे कुडल हाथों मे बाजुबन्द और कठिभाग में कदोरा नही पहनता, उसके सामने पुष्पो का ढेर नही लगा होता और उसके मठ में नाटकशाला जितनी रोशनी भी नही होता। मात्र उसके आसपास का वातावरण शान्त और निर्मल होता है, तथापि यदि हम अपने सन्यासी को विरूपस्थिति मे रक्खें तो उस रीति को मैं उसकी मस्करी सिवा अन्य कुछ नही समझता। यदि कोई भाई यह कहे कि हमारे लिये तो श्रीवर्धमान की सर्व अवस्थाये उपास्य ही हैं तो इसे मैं विशेष सुन्दर मानता हूँ। परन्तु उस प्रत्येक अवस्था की सर्वथा भिन्न भिन्न मूर्ति होनी चाहियें। श्रीवर्धमान की क्रीडावस्था, श्रीवर्धमान और यशोदा की गृहस्थावस्था, दीक्षितावस्था, उनकी परमयोगिमुद्रावस्था और सिद्धावस्था की मूर्तियें होनी चाहिये। ऐसा किये बिना मात्र एक योगमुद्रा मे ही उनकी सर्व अवस्थाओं की कल्पना नहीं हो सकती। एक ही मुद्रा में सब अवस्थाओ की कल्पना करने वाले के लिये तो किसी आकार वाली मूर्ति की अपेक्षा गोलमटोल पाषाण ही काफी है। तस्तु, ऐसा एक भी प्राचीन प्रमाण नही मिलता कि जो श्वेताम्बर और दिगम्बर मूर्ति की भिन्नता साबित करता हो। प्रमाण तो इससे विपरीत ही मिलते हैं और वे दोनो सप्रदाय की मूर्ति की एकता को सिद्ध करते हैं। यदि प्रथम से ही दोनों संप्रदाय की मूर्तिया भिन्न भिन्न होतीं तो श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के लिये एक ही तीर्थ पर आकर एक ही मूर्ति के स्नात्रादि विधिविधान करने के जो उल्लेख मिलते हैं वे किस तरह मिल सकते थे? श्वेताम्बर सघपति पेथडका सघ और दिगम्बर संघपति पूनीजी (पूर्ण) अग्रवालका संघ ये दोनो ही गिनरनार पर एक साथ ही चढ़े थे और दोनों संघ

के लोगों ने श्रीनेमिनाथ की मूर्ति का सहर्ष स्नात्र वगैरह किया था (देखो सुकृतसागर पृ० ३०-श्लो० २१-२२। यदि ये दोनों सघ एक समान मूर्ति को न मानते होते तो एक ही श्रीनेमिनाथ मूर्ति का (बिना कुछ परिवर्तन किये) स्नात्रादि किस तरह कर सकते थे? और ११०० दिगम्बर भट्टारक गये थे, उन्हें मार्ग से देवदर्शन के लिये मंदिरो की आवश्यकता पडे यह संभवित ही बात है, परन्तु वस्तुपालने अपनी संघसामग्री मे एक भी दिगम्बर प्रतिमा साथ ली हो ऐसा उल्लेख नहीं मिलता, इससे यह साबित होता है कि जो मंदिर वस्तुपालने अपने साथ लिये थे उन्ही के द्वारा दिगम्बर भट्टारक भी जिनदर्शन करते थे। इससे यह बात भी सिद्ध हो सकती है कि वस्तुपालने अपने साथ ली हुई प्रतिमायें और मंदिर दोनों को) मान्य और पूज्य होने चाहियें। यदि श्वेताम्बर दिगम्बरो का मूर्ति साम्य न होता तो श्वेताम्बर वस्तुपालके संघ में दिगम्बर भट्टारको की स्थिति का पोषण किस तरह हो सकता था? (देखो उपदेशतरंगिणी पृ० २४७) इस सम्बन्ध मे श्रीधर्मसागर जी अपने प्रवचन परीक्षा नामक ग्रन्थ में निम्न प्रकार से उल्लेख करते हैं।

अथ दिगम्बरै यह सभावित भावि विवादभञ्जनाय संधेन यत् कृत तदाह-

''मा पडिमाण विवाओ होहि त्ति विचिंतिऊण सिरिसघो।
कासी पल्लवचिंध नवाण पडिमाण पयमूले ।।६७।।
तं सोउण रूट्ठो दुट्ठे खमाणो वि कासि न गिणत्त।
निअ पडिमाणं जिणवरविगोवण सो विगयसन्नो ।।६८।।
तण सपइपमुहप्पडिमाण पल्लवकण नित्थ।
अत्थि पुण सपईणप्पडिमाण विवाय कालाओ ।।६९।।
पुव्वि जिणपडिमाण नगिणत्त नेव न वि पल्लवओ।
तेण नाSSगारेण मेओ उभएसि सभूओ ।।७०।।

प्रतिमा सबन्धी कलहो मा भूद् इत्यमुना प्रकारेण विचिन्त्य पार्यालोच्य, श्रीसघो नवीनप्रतिमाना अद्यप्रभृति निर्मीयमाणाना जिनप्रतिमाना पदमले पादसमीपे पल्लवचिन्हं वस्त्रट्रलिका लक्षण लाञ्छनमकार्षीत् - कृतवान् ।।६७।। अथ श्रीसघकृत्यमधिगत्य दिगम्बरो यद् व्यधात् तदाह-तत् श्रीजिनेन्द्र प्रतिमाना पदमूले श्रीसघकृत पल्लवचिन्ह ज्ञात्वा दुष्टक्षपण को रूष्ट: क्रोधा विष्ट सन् x निजाना स्वायत्ताना जिनप्रतिमाना नग्नत्वं दृश्यमालनिग्डाद्यवयवत्वमकार्षीत्-अय भाव अहो! अस्मन्निश्रितप्रतिमाकारतो भिन्नताकरणाय यदि श्रीसघेन पल्लवचिन्हमकारि, करिष्यामस्तर्हि वयमपि श्वेताम्बर प्रतिमातो भिनत्वकरणाय किंचिच् चिन्हमिति विचिन्त्य मत्सर

भावेन जिनप्रतिमाना नग्नत्वं विहितम्। श्वेताम्बरेण स्वयं वस्त्रधारित्वाद् वस्त्रचिन्हं कृतम् दिगम्बरेण स्वयं नग्नत्वात् नग्नत्वमेव ।।६८।। अथ मुग्धजनप्रत्यायनाय तच्चिन्हमाह-येन कारणेन क्विादि समुत्पन्ने पल्लवचिन्हं प्रतिमासु संवृत्त तेनैव कारणेन संप्रतिप्रमुखप्रतिमानां विवादात् पूर्वकाल भविनीनां त्रिखण्डाधिपति संप्रतिनृपप्रभृति निमापितानां जीर्ण प्रतिमानां पल्ल्वाक्ङनं अञ्चल चिन्हं नास्ति न विंद्यते, अस्ति विद्यते पुनः सांप्रतीन प्रतिमानां आधुनिक जिनप्रतिमाना पल्लवचिन्हमिति साप्रतीन तत् x उज्जयन्त गिरिमाश्रित्य दिगम्बरैः सह विवाद कालात् ।।६९।। अथ विवाद कालात् पूर्व किभासीत्? तदाह-पूंर्व विवादात् पूर्वकालं जिन प्रतिमानां नैव नग्नत्व, नाऽपि च पल्ल्वबकोऽञ्चलचिह्नम्, तेन कारणेन जिन प्रतिमानां उभयेषा श्वेतामभर-दिगम्बराणां भेदो भिन्नत्व न संभूतो नासीत्-सदृश आकार आसीत् ।।७०।। (प्रवचनपरीक्षा-लि० पा० ३७-३८)

कहा जाता है कि गिरनार पर्वत किस की मालकीयता का है इस सम्बन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बरो के बीच एक दफा कलह उत्पन्न हुआ था। उ पर्वत पर मदिर और मूर्तिया सब समानाकार होने से इससे पर्वत पर मालकीयत किस की है इस विषय में निर्णय होना अशक्य था। यात्रा और पूजा के लिये दोनो सम्प्रदाय के लोग उस पर्वत पर बहुत समय से आया जाया करते थे, पर्वत का स्वामित्व किस सम्प्रदाय का है इस बात का शीघ्र निर्णय नही हो मकता था। इस दुर्गम निर्णय के लिये श्वेताम्बरों के कायोत्सर्ग के प्रभाव से शासनदेवी प्रगट हुई और उसने फैसला किया? कि इस तीर्थ का स्वामित्व श्वेताम्बरो का है। अभी तक दोनो सम्प्रदाय की मूर्ति का आकार और पूजा का प्रकार एक सरीखा होने से फिर भी ऐसा कलह होने का भय था, इससे श्वेताम्बर सघ की ओर से इसके बाद बनाई गई प्रत्येक जिन प्रतिमाक पैर के पास वस्त्र की पट्टी का निशान कराया गया था। यह देखकर इसी भय से दिगम्बरो ने भी अपने अधिकार मे आई हुई प्रत्येक प्रतिमा पर नग्नता का चिन्ह बना दिया *श्वेताम्बरो ने स्वय वस्त्रधारी होने से प्रतिमाओं को भी वस्त्रधारी बनाई थी और दिगम्बर स्वय नग्नता के हिमायती थे अत· उन्होने अपनी प्रतिमाओ को नग्न रक्खी थी। मूर्ति के सम्बन्ध मे वस्त्र और नग्नता का विवाद इसी समय से प्रारभ हुआ था। इससे पहिले समय की प्रतिमाओं मे

*यदि आज श्रीवर्धमान स्वामी भाई विद्यमान होते तो श्वेताम्बरी उन्हे वस्त्र पहनाते, स्थान कवासी भाई तदुपरान्त मुखपर मुख पत्ती बाधने का आग्रह करते और दिगम्बरी महानुभाव नग्न ही रखने का हट करते। परन्तु यह ठीक ही हुआ कि उस महापुरूष की निर्वाण हो गया।

किसी तरह का विशिष्ट निशान न था, इसी कारण वे प्रतिमायें राजा संप्रति द्वारा बनाई हुई कही जाती हैं, उनमें कहीं पर भी इस प्रकार की निशानी नहीं मिलती और जो प्रतिमायें उस विवाद समय के बाद की अर्वाचीन हैं उनमें ये दोनों तरह की निशानी पाई जाती है, अर्थात् विवाद समय से वस्त्रधारित्व भी न था। इससे इन दोनों सप्रदाय की जिन प्रतिमाओ का आकार एक सराखा था, उनमें कहीं पर भी कुछ भेद न था।"

श्रीधर्मसागर जी ने इस विवाद के समय का उल्लेख नहीं किया तथापि उपदेशतरंगिणी में २४८-२४९ वें पृष्ठ पर दिये हुये उल्लेख से स्पष्ट तया मालूम हो सकता है कि यह विवाद जूनागढ़ के राजा खेंगार के राज्यकाल मे आम राजा के गुरू बप्पभट्टि सूरि के समय हुआ था जो समय विक्रम की नवमी शताब्दी का प्रारभ था। उपरोक्त अनेक प्रमाणो से यह बात स्पष्ट होती है कि मूर्तियों की नग्नता और वस्त्रधारिता बाद मे ही बनाई गई है। हमारे दोनों सप्रदाय में नवमी शताब्दी के प्रारभ मे ही यह भेद दाखिल हुआ है। इससे पहिले हमारे दोनो भाइयों की मूर्ति और मूर्तिपूजा एक सरीखी ही थीं, इसके प्रमाणों की अब कुछ कमी नही है। वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी वर्तमान मे ही हम मूर्ति ओर तीर्थ के लिये परस्पर विषकी वृष्ट कर रहे हैं। मुझे इसका कारण हमारे दोनो साम्प्रदायिक धर्म नेतओ के कदाग्रह के सिवा अन्य कुछ नही देख पडता। मैं सुनता हूँ यदि उस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर मूर्तिपूजा करते हो तो वैसी मूर्तिपूजा न करने मे ही कल्याण है। मक्षीजी मे अग्रेज सरकार ने श्वेताम्बर और दिगम्बरो के लिये पूजा करने का समय नियत किया हुआ है। तदनुसार श्वेताम्बरो की पूजा हुये बाद दिगम्बर भाई पधारते हैं और वे मूर्ति पर लगाये हुये चक्षु तथा श्वेताम्बरो की की हुई पूजा को रद्द करते हैं फिर इन्द्र पूज्य बनने की आशा से खुश होते हुये हमारे श्वेताम्बरों की पूजा की बारी आने पर वे उस मूर्ति पर फिर से चक्षु और टीका आदि लगा देते हैं। इस प्रकार का विधि किये बाद ही वे दोनों भाई अपनी २ की हुई पूजा को पूजारूप मानते हैं। परन्तु मैं तो इस रीति को तीर्थकर की भी नही मानता। यह तो ससार मे दो स्त्रीवाले भद्र पुरूष की जो स्थिति होती है उसी दशा में हमने अपने वीतराग देव को पहुँचा दिया है, यह हमारी किती कीमती प्रभु भक्ति है??? ऐसी भक्ति तो इन्द्र को भी प्राप्त नही हो सकती? मैं मानता हूँ कि यदि इस मूर्ति मे चैतन्य होता तो यह स्वय ही अदालत मे जाकर अपील किये बिना कदापि न रहती। यह मूर्तिपूजा नही बल्कि उसका पैशाचिक स्वरूप है और तीर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाला क्लेश भी मूर्ति पूजा का राक्षसी स्वरूप है।

आगम-वाचनवाद

अब मैं अपने अन्तिम मुद्दे पर चर्चा करके इस निबन्ध को जो मेरी धारण से अधिक लम्बा हो गया है समाप्त करूँगा। अन्तिम मुद्दा आगम वाचन वादका है, अतः मुझे यहाँ पर जो कुछ बतलाना है वह निम्न प्रकार से है।

साधु लोग कहते हैं कि गृहस्थों को सूत्र पढ़ने का अधिकार नहीं है, गृहस्थ तो मात्र सूत्रों का श्रवण ही कर सकते हैं और वह भी हमारे द्वारा ही पाठको ! आप स्वयं देख सकते हैं कि बीसवीं सदी के इन निर्ग्रन्थ महात्माओं की कितनी सत्ता और शेखी है। वे इस विषय में कुछ आज ही ऐसा नहीं कहते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में मैं प्रथम ही आप के समक्ष श्री हरि भद्रसूरि के शब्दों में बतला चुका हूँ कि * चैत्यवासियों में से कितनेक व्यक्तियों ने उस समय यह पुकार उठाई थी कि श्रावकों के समक्ष सूक्ष्म विचार न प्रगट करने चाहियें, अर्थात् जैसे ब्राह्मणों ने वेद का अधिकार अपने लिये ही रखकर दूसरों को उसके अनधिकारी ठहरा कर अपनी सत्ता जमाई थी, वैसे ही इन चैत्यवासियों ने भी आगम पढने का अधिकार अपने लिये ही रिजर्व रक्खा और श्रावकों को उसका अनधिकारी ठहराया था। यदि वे श्रावको को भी आगम पढने की छूट दे दें तो अंग ग्रंथों को पढकर जो धन वे स्वय उपार्जन करना इच्छते थे वह किस तरह बन सकता था ? तथा अगग्रन्थों के अभ्यासी श्रावक उनका दुष्टाचार देखकर उन्हें किस तरह मान देते ? इस प्रकार श्रावकों को आगम पढने की छूट देने पर अपने ही पेट पर लात लगने के समान होने से और अपनी सारी पोल खुलजाने का भय होने के कारण ऐसा कौन सरल पुरुष होगा कि जो अपने समस्त लाभ को अनायास ही चला जाने दे ? पूर्वोक्त हरिभद्रसूति के उल्लेख से यह भली भांति मालूम होता है कि श्रावकों को आगम न वांचने देने का बीच चैत्यवासियों ने ही बोया हैं और आज तक वह उसी तरह का सडा हुआ पानी पी पीकर इतना बढ गया है कि अब हमें अवश्य ही उसका विच्छेद करना पड़ेगा।

मुझे इस अन्तिम मुद्दे को दो भिन्न-भिन्न दृष्टियो द्वारा स्पष्ट करना है। एक तो भाषादृष्टि और दूसरी शास्त्र दृष्टि है। वैदिक धर्मानुयायियों की तरफ से हम पर यह आक्षेप किया जाता है कि सस्कृत जैसी प्रौढ़ भाषा को छोड़कर जैनियों ने जो अपने मूलग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखे हैं उसका कारण उनकी सस्कृत से अनभिज्ञता होनी चाहिये। परन्तु इस आक्षेप की निर्मूलता बतलाते हुये हमारे महर्षि कहते है

---

* "केइ भणतिउ भ णणइ सुहुम वियारो न सावगाण पुरो, सबोध प्र० पृ० १३—श्लोक १६

कि "बाल स्त्री वृद्धमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणम्।
उच्चारणय तत्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृत.।।

(तत्व निर्णय प्रासाद पृ० ४१३)

इस श्लोक पर से यह बात स्पष्ट होती है कि बालक स्त्री, वृद्ध, और मूर्ख लोगों के लिये अर्थात् आबाल गोपाल सभी बिना प्रयास श्रीवर्धमान के प्रवचन का उच्चार कर सकें एवं अच्छी तरह समझ सकें इसी हेतु से आगम को प्राकृत जैसी सर्वदेशीय सरल और मधुर भाषा में संकलित किया गया है।यदि उस प्रवचन आगम को पढ़ने का अधिकार मात्र मुनियों को ही होता तो उन ऋर्षियों को यह श्लोक लिखने की क्या आवश्यकता थी ?

प्रभावक चरित्र में कहा है कि चौदह पूर्व संस्कृत भाषा में थे, वे काल के प्रभाव से उच्छिन्न—नष्ट हो गये, इस समय सुधर्मस्वामी भाषित एकादशाग सूत्र हैं जिन्हें उन्होंने बाल, स्त्री, वृद्ध और मूर्ख आदि मनुष्य को भी उनका लाभ मिल सके ऐसी अनुग्रह बुद्धि से प्राकृत में रचे हैं।

१ दशवैकालिक टीका तथा धर्मविदुवृत्ति,।।

२ चतुर्दशाऽपि पूर्वाणि संस्कृतानि पुरा ऽभवन्।। ११४।।

प्रज्ञातिशय साध्यानि तान्युच्छिन्नानि कालत ।

अधुनैकादशागड चरित सुधर्मस्वामि भाषिता।। ११५।।

इसी बात को निम्न लिखित गाथा भी पुष्ट करती है यत उक्तमागमे—

मुन्तूण दिट्ठिवांय कालिय—उक्कालियग सिद्धत।।

थी—बालवायणत्थ पाइममुइय जिणवरेहिं।।

इस गाथा में तो स्त्री और बालको को पढने के लिये अंगो—आगमो को प्राकृत भाषा में रचा गया है ऐसा सबसे स्पष्ट उल्लेख है। तथा विशेषावश्यक और उमकी मलधारीकृत टीका में भी निम्न प्रकार का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जिसमें खुल्लम खुल्ला श्रावको का भी निर्देश किया हुवा है।

* १ जइ विय भूयावाए सव्वस्स वओमयस्स ओआरो।

निज्जूहण तहावि हु दुम्मेहे पप्प इत्थीय।। ५५१।।

"तेषु च निश्शेषमपि वाङ्मयमवतरति। अतश्चतुर्दशपूर्वात्मकं द्वादशमेवाङ्गमस्तु, किं शेषाङ्गविरचनेन, अङ्गबाह्यश्रुतरचनेनवा १ तत्र यद्यपि दृष्टिवादे सर्वस्यापि वाङ्मयस्यावतारोऽस्ति, तथापि दुर्मेधसांतद्वधारणद्ययोग्यानां मन्दमतीनां, तथा श्रावकादीनां स्त्रीणांचानुग्रहायं निर्यूहणा विरचना शेषश्रुतस्योति—(विशेषा० पृ० २९८—२९९, गा ५५१)

अर्थात् यदि सब अंगों का सार बारहवें अंग दृष्टिवाद में समा सकता हो तो फिर उन अंगों को जुदा रचने की क्या जरूरत है ? इस प्रश्न के समाधान में श्रीजिन भद्रसूरिने कहा है कि १ यद्यपि दृष्टिवाद में समस्त वाङ्मय समा जाता है तथापि जो लोग दुर्मेवस-कम बुद्धिवाले हैं उनके और स्त्रियों के लिये यह सारा श्रुत रचा गया है" जिन भद्रसूरिकृत इस गाथापर की गई टीका में बतलाया है कि "दुर्मेधस याने जो दृष्टिवादको समझने जितनी बुद्धि नहीं रखते उनके तथा श्रावकादि और स्त्रियों के लिये वाकी का अगश्रुत या अन्तश्रुत रचा गया है।" ऊपर बतलाये हुये एक से अधिक पुष्टप्रमाणों से यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है कि आगमों की प्राकृत भाषा इसी लिये रक्खी गई है जिससे उसके द्वारा आवाल गोपाल उन्हें आसानी से पढकर लाभ उठा सकें। इस प्रकार हम भाषादृष्टि से आगम प्रमाण पूर्वक गृहस्थियोंको आगम पढनेका अधिकार साबित कर सकते हैं। शास्त्रीय दृष्टि भी इस अधिकारको पृष्ट करती है। इस विषयमें मैं यह कहता हूँ कि यदि श्रावको को आगम पढने का अधिकार न होता तो उस विषय का निषेधात्मक उल्लेख किसी अंगसूत्रग्रन्थ मे क्यों नहीं मिलता ? आचाराअग सूत्रमे साधुओं के अनेक तरह के आचार विहित किये हैं, उसमें कहींपर भी भिक्षु ने या भिक्षुणी ने श्रावको को आगम न पढाना ऐसा उल्लेख क्यों मिलता ? कदाचित् कोई यह कहे कि सूत्र ग्रन्थो में श्रावको को लब्धार्थ गृहीतार्थ, पृष्टार्थ और विनिश्चितार्थ कहकर सम्बोधित किया है, इससे वे मात्र अर्थ को ही अधिकारी हो सकते हैं परन्तु सूत्र के अधिकारी नहीं। इस विषय मे मै कुछ कहूँ इसकी अपेक्षा हरिभद्रसूरिजी का कथन विशेष न्यायेपेत गिना जायगा। जब चैत्यवासिनीयों ने कहा कि श्रावको के सामने सूक्ष्म विचार न कहने चाहियें उस समय इस बात कर अयुक्तता सिद्ध करते हुये हरिभद्रसूरिने अपने सम्बोध प्रकरण के १३ वें पृष्ठ पर कथन किया है कि "त न जओ अंगाइसु सुव्वइतव्वन्नणा एव ।। २६ ।। लद्धठ्ठा, गहियठ्ठा, पुच्छियठ्ठा विणिच्छियठ्ठाय। अहिगजीवाजीवा अचालणिज्जा पवयणओ,।। २७ ।।

अर्थात् चैतन्य वासियों का उपरोक्त कथन अयुक्त है, क्योंकि अंगसूत्रो में श्रावको को लब्धार्थ, गृहीतार्थ, पृष्टार्थ, विनिश्चितार्थ, जीवाजीव के जानने वाले और

प्रवचन से अचलनीय वर्णित किया है, इससे वे सुक्ष्मविचारों को भी जानने के अधिकारी हैं। जिन विशेषणों द्वारा श्रीहरिभद्र जी श्रावकों को सूक्ष्म विचारों के परिज्ञान का अनधिकारी साबित करते हैं उन्हीं विशेषणों द्वारा हमारे धर्मगुरु हमें सूत्र पढने का अनाधिकारी बतलाते है। जिन सूत्रो में बिलकुल सादी और सरल बातें लिखी हुई हैं उन सूत्रों में ऐसा विषय क्वचित् ही आता है जो गुह्य, सूक्ष्म और गोप्य हो। इस विषय में मैं प्रथम बतला चुका हूँ कि जब श्रावकों को इन विशेषणों से संबोधित किया गया था उस समय सुत्रग्रन्थ लिपिसद्ध नहीं हुये थे, इससे श्रावक उन अरण्यवासी मुनियों के पास जाकर भगवान महावीर का प्रवचन सुना करते थे और उस श्रवण किये हुये प्रवचन स्वनामके समान कंठस्थ रखते थे। साधु भी ऐसा हीं करते थे। समवायागसूत्र में उपासदशांग सूत्र के विषय का उल्लेख करते समय उपासकों के श्रुपरिग्रह-श्रुताभ्यास भी वर्णित किये गये हैं। उपसको के वे श्रुतपरिग्रह इस बात को स्पष्ट रूप से साबित करते हैं कि उस समय के श्रावक भी श्रीवर्द्धमान भगवान के प्रवचन को कठस्थ रखते थे। यदि उन्हें वैसा करने में अधिकारी न माना गया होता तो उस समय सूत्रों के सिवा ऐसा कौनसा श्रुत था जिसको वे स्वीकार कर सकते थे ? सूत्रो में ऐसा भी कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध होता हो कि कोई श्रावक बारह अगो का पाठी हो , परन्तु इससे वे कुछ उसके अनाधिकारी साबित नहीं हो सकते, क्योंकि श्रावक को जितना श्रुत उपयोगी हो उतना ही वे पढते हों इससे कदाचित् उन्हें सम्पूर्ण ग्यारह या बारह अग को सीखने की आवश्यकता न पडी हो। साधुओं का तो स्वाध्याय ही व्यवसाय होने के कारण वे ग्यारह या बारह अंग सीखें या पढें तो इसमें कोई नई बात नही है। सूत्रो में जहाँपर स्वप्न पाठकों का वर्णन आता है। वहाँ सब जगह उन्हें गहीयट्ठा, लद्धट्ठा, आदि संबोधनो से संबोधित किया है। यदि इन विशेषणो या संबोधनो का यही अर्थ हो जैसा कि हमारे कुलगुरु बतलातते हैं तो फिर इन विशेषणों से श्रावकों के समान वे स्वप्न पाठक भी स्वप्नशास्त्रको मात्र सुनकर ही पंडित हुयें होने चाहिये, परन्तु स्वयं पढकर नहीं। यह बात संभव नहीं कि कोई मनीषी मनुष्य स्वप्न शास्त्रियों के लिये यह कहे कि उन शास्त्रों का अध्ययन किये बिना मात्र अर्थ को सुनकर ही वे शास्त्री बन गये हैं। तथा अर्थ को प्राप्त करने की मात्र सुनना ही उक रीति नहीं है, क्योंकि पढने से भी अर्थ प्राप्त किया जा सकता है, अत उपर बतलाते हुये गहीयट्टा आदि विशेषण पढ़ने वाले-वाचने वाले को भी लागू पड सकते हैं इसलिये पूर्वोक्त संबोधनों—या विशेषणों से श्रावक सूत्र के अनधिकारी सिद्ध नहीं हो सकते। यह तो सूत्र पढकर धन कमाने वाले चैत्यवासियों ने ही उन्हें सूत्र के

अनधिकारी ठहराये थे और तब से लेकर ये भद्रिक श्रावक आज तक परतन्त्रता की जंजीरों में जकड़े हुये बेचारे विचार शून्य से हो बैठे हैं। प्रतिदिन तीन खमासमणों दे देकर अपने स्वामियों को सुखसाता पूछा करते है, परन्तु इसका परिणाम परतन्त्रता की वृद्धि के सिवा अन्य कुछ नहीं आता। कितनेक कहते हैं कि साधुओं को भी अमुक अमुक वर्ष का दीक्षापर्याय होने पर यही अमुक अमुक सूत्र पढ़ने का अधिकार है तब फिर श्रावकों के अधिकार की तो बात ही क्या ? जहाँ तक मैंने खोज की है उस से यह साबित होता है कि यह पर्याय वाद का विधान भी चैत्यवासियों के समय का ही है, क्योंकि मैंने सूत्रग्रंथों में बहुत से श्रमणों के चरित्र पढ़े हैं उनमें उन्होंने इस क्रम की मर्यादा पालन किया हो यह मालूम नहीं होता। इससे यह साबित होता है कि अमुक दीक्षा पर्याय वाला ही अमुक सूत्र का अध्ययन करें यह विधान प्राचीन नहीं किंतु अर्वाचीन है तथा यह पद्धति एवं कठिन तपरूप उपधानों की पद्धति भी उन चैत्यवासियों को पीछे हटाने के लिये ही रची गई है और उसका प्रारम्भ भी तब से ही हुआ है। यदि ये दोनों रीति प्राचीन और विधि विहित होती तो सूत्र ग्रन्थों में उसका उल्लेख अवश्य मिलता और सूत्रों में वर्णित आदर्शमुनि भी उसका अनुसरण करते। सूत्रों में वर्णित किये गये मुनियों के चरित्र में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि उन्होंने उपधान (योगोद्वहन) करके ही सूत्र पढे हो, इसलिये यह प्रकार भी अर्वाचीन और अविहित है। जहाँ जहाँ पर साधुओं के सूत्राभ्यास का उल्लेख मिलता है वहाँ कहीं पर उन्होंने सूत्रों के पढने से पहिले योगोद्वहन किया हो ऐसी गधतक भी नहीं आती। मैं मानता हूँ कि जो श्रमण-निर्ग्रन्थ निरन्तर योगनिष्ट, तपस्वी, अकषायी, और सुविनीत हों उन्होंके लिये योगोद्वहन का विधि सर्वथा निरर्थक है। परन्तु जो श्रमण श्रीहरि भद्रसूरि ने बतलाये वैसे हों उन योगच्युत उदरम्भरी साधुओं के लिये यह योगोद्वहन की पद्धति उचित हो सकती है और ऐसा होने से ही मुझे यह बतलाना पडा है कि इस पद्धति का समय चैत्यवास का समवर्त्ति है। सूत्रों में जो साधुओं के सूत्राभ्यास के उल्लेख मिलते हैं उनमें से थोडे से नीचे देता हूँ—

१ "तए ण से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाण थेराण अंतिए सामाइय माइयाई एक्कारस अगारे अहिज्जइ"—भगवतीसूत्र अजीम पृ० १६५

२ "एत्थ णं से कालोदायी सबुद्धे एव जहा खदए तहेव पव्वइए तहेव एक्कारस अगाणि"—भग० अजीम० पृ० ५१४

३ "(उसभदत्तो) एएण कमेणं जहा खंदओ तहेव पव्वए जाव० सामाइय माइयाइ एक्कारस अंगाई अहिज्जइ"—भग० अजीम० पृ० ७९६

४. "तए णं सा देवाणंदा अज्जा अज्जचंदणए अज्जाए अंतियं सामाइय माइयांइ एक्कारस अंगाई अं हिज्जई"—भग० अजीम० पृ० ७६७.

५. "तुमं गोसाला ! भगवया चेव पव्वाविए भगवया चेव बहुस्सुईकए" भग० अजीम० पृ० १२४७

इसके अतिरिक्त ऐसे अन्य भी अनेक उल्लेख मिलते हैं, परन्तु वे मब एक सरीखी रीति से लिखे होने के कारण उनमें से एक में भी पर्यायक्रम या योगोद्वहन की छींट तक मालूम नहीं देती।

मैं प्रथम बतला चुका हूँ कि चैत्यवासियों को पीछे हटाने के लिये किसी दक्ष पुरुष ने तीव्र तपश्चर्यारूप उपधान या योगोद्वहन की नीव डाली है या उन चैत्यवासियों ने ही उस समय के श्रावकों को यह समझाया हो कि योगोद्वदन किये बिना हमें भी सूत्र पढने का अधिकार नहीं है और उपधान किये सिवा श्रावकों को नवकार बोलने का भी अधिकार नहीं तो फिर श्रावकों के सूत्र पढने की तो बात ही क्या ? इस प्रकार समझाकर उन्होंने भद्र श्रावकों से उपधान के कर रूप में मिलते हुवे द्रव्य को हडप करने का प्रपच रचा हो तो यह सभवित है। चाहे जो हो परन्तु उपधान यकी सामुदायिक वर्तमान पद्धति जो हलवाई की दुकान के समान मादक और मोहक है वह चैत्यवासियों के समय की है इसमें जरा भी सदेह को स्थान नहीं। उपधान के विषय में किसी भी अंग सूत्र में कुछ सुराक नहीं चलता, मात्र महानिशीय सूत्र जो अगसूत्रों से बाहिर का है और जो चैत्यवासियों की हलकी स्थिति में संकलित किया गया है उसमें ही इस उपधान आदि का कुछ उल्लेख मिलता है। यह सूत्र अंग सूत्रो के समान सर्वमान्य नहीं समझा जाता। प्राचीन आचार्यो मे भी इस सूत्र की प्रमाणिकता के लिये भारी मतभेद हो चुका है (देखो शतपदी और महानिशीय) यदि कदाचित् हम अन्य बातो को छोडकर इस बातपर ही विचार करे कि सूत्र ग्रन्थों में सूत्र पढ़ने वालों में से किसी ने उपधान आदि किया हो यह उल्लेख नहीं मिलता एव सूत्रगत आचार के नियमों में इस पद्धति के वर्णन गन्धतक नहीं तो यह उपधानादिका विधान महानिशीय सूत्र में-वह भी एक छेद सूत्र और आपवादिक मार्गदर्शक सूत्र मे कहाँ से आया ? इन मब बातों का विचार करने पर हमें विवश होकर यह कबूल करना पडता है कि यह उपधान विधान आदि उन चैत्यवासी बाबाओं की उपजाऊ कल्पवल्ली है और इसी कारण यह उनके समय के ग्रन्थ में लिखी हुई है। यदि हम साधारण धार्मिक दृष्टि से विचार करे तो भी यह मालूम होगा कि जिन सूत्रग्रन्थों में काष्ठ की पुतली को भी देखना निषेध किया है वे ही

सूत्र ग्रन्थ नित्य मादक भोजी साधुओं को मादक भोजी युवती और विधवाओं के टोले में रहकर उपधान की क्रिया कराने की अनुमति दे सकते हैं ? वर्तमान समय में तो उन्हीं सूत्रों को मानने वाले पंन्यास और आचार्य तीन तीन सौ एवं चार चार सौ स्त्रियों के यूथ में यह क्रिया करा रहे है जिसे हम धर्म मानते हैं। कैसी शिष्टता ? कैसी शील समिति ?? और कैसा भयंकर छिपा हुवा धार्मिक अनाचार है ? जो चैत्यवासियों पर स्त्री परिचय का बारम्बार आक्षेप श्रीहरिभद्रसूरि ने अपने सम्बोध प्रकरण में किया है, उसका नमूना इस उपधान पद्धति में हमें प्रत्यक्ष देख पड़ता है, इससे मैं दृढ़ता पूर्वक कह सकता हूँ कि यह रीति उनकी रासस्थलों भी हो !!!

स्थानाअंग सूत्र में एक जगह सूत्रपढ़ाने के कारण बतलाते हुए लिखा है कि पंचहिं ठाणेहिं सुत्त वाएज्जा त जहा—१ सगहट्ठाए, २ उवसग्गहट्ठाए, ३ निज्जरट्ठए, सुत्ते ४ वा में पज्जवयाए भवस्तति सुत्तस्स वा अव्वेचिछत्तिणयट्ठताए, (लिखित पाठ०६८-६६। भाडारकर।

इस उल्लेख में ज्यों सूत्र पढ़ाने के अन्य कारण बतलाए हैं त्यों उपग्रह को भी कारण कोटि में रक्खा है। उपग्रह के अर्थ को स्पष्ट करते हुये टीकाककारने बतलाया है कि 'जो आहार, पानी और वस्त्र आदि को पैदा करने में समर्थ हों उन्हें सूत्र पढ़ाकर उपग्रहित करना, यहाँ पर आप देख सकते हैं कि यह उल्लेख तो बिलकुल स्पष्टतया गृहस्थियों के ही लिये लिखा गया है, गृहस्थी की आहार, पानी और वस्त्र आदि पैदा करके साधुओं को देते हैं, वे ही अपने पसीने की कमाई से साधुओं का पोषण कर रहे है अत सूत्रकार तथा टीकाकार साधुओं को बदले की नीति की सूचना करते हैं कि वे गृहस्थों को सूत्र पढाकर उपग्रहित-आभारी करें। यह बात सर्वथा स्पष्ट होते हुये भी वर्तमान में श्रावकों के धन से पोषित होने वाले निर्ग्रन्थ (१) महाशय श्रावकों को कैसा बदला दे रहे हैं यह बात आप और मुझसे छिपी हुई नहीं है। इससे बढ़कर और भी ऐसे अनेक प्रमाण मेरे देखने में आये हैं जो सीधे तौर से या रूपान्तर से श्रावकों की सूत्राधिकारिता को सूचित कर रहे है, परन्तु स्थान संकोच के कारण उन सबका यहाँ पर उल्लेख न करके मैं इस मुद्दे को यहाँ ही समाप्त करता और साथ ही यह बात सप्रमाण कहे देता हूँ कि श्रावकों को सूत्र पढने के लिये जो निषेध किया गया है वह अयुक्त है, अप्रमाणिक है, अविहित है और सर्वथा श्रीजिनाज्ञाविरुद्ध है।

प्रिय पाठको ! अन्त में मैं इतना कहता हूँ कि मैने इस प्रस्तुत निबन्ध में अपने चारों ही मुद्दों को यथामति और यथाशक्ति आपके समक्ष रखने का प्रयत्न किया है और साहित्य-विकार से वर्तमान में हमारी क्या स्थिति हुई है यह भी यथामति

स्पष्ट करने का प्रयत्न सेवन किया है। ज्यों ज्यों अपने इस कमनसीब समाज की गिरी हुई दिशा के विचार मेरे सामने आते हैं त्यों त्यों मुझे विशेष वेदना होती है और उस वेदना को शान्त करने के लिये मैंने इस प्रकार पूर्वकालीन परिस्थिति का ऐतिहासिक चित्र आपके सन्मुख रक्खा है। जो आप सब इस विषय में विचार करके बड़ों के साथ परामर्श कर हमारे धार्मिक तथा सामाजिक रूढ़िनियम जो वर्तमान मे हमारे उन्नति के रोचक या बाधक हो रहे हैं वे भविष्य में वैचेन रहें इस प्रकार का योग्य प्रयास करेंगे तो मैं इस अपने प्रयास को समझ हुआ समझूंगा। अब राष्ट्र से बाके समान धर्मरोषा की हम श्रावकों पर ही आ पड़ी है। इसने गुजरकर या स्थापित शास्त्रों के निरवास पर ही बहुत समझ निराया, परन्तु इससे हमार कुछ भी उद्धार न हुआ, न होता है और अब होता भी नहीं। प्यारे युवक मान लो। आप उठो अब कमर कस लो, स्याने हमारी रस्यहामानैच कभी देश महात्मा गान्धी, जैसे महापुरुष की सलाह लेकर यदि वती और स्वतन्त्रता वाली प्रकृति से भी हम सौन के प्रवचन को साक्षात के मुख से वली यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। सत्य ही शिष्टा पूर्वक मैं यह भी कह देता हूँ कि मै अपने इस निबन्ध को लिखते हुये कहीं खालित हुआ हूँ क्षन्तव्य हूँ। ॐ शान्ति